सिद्धयोग

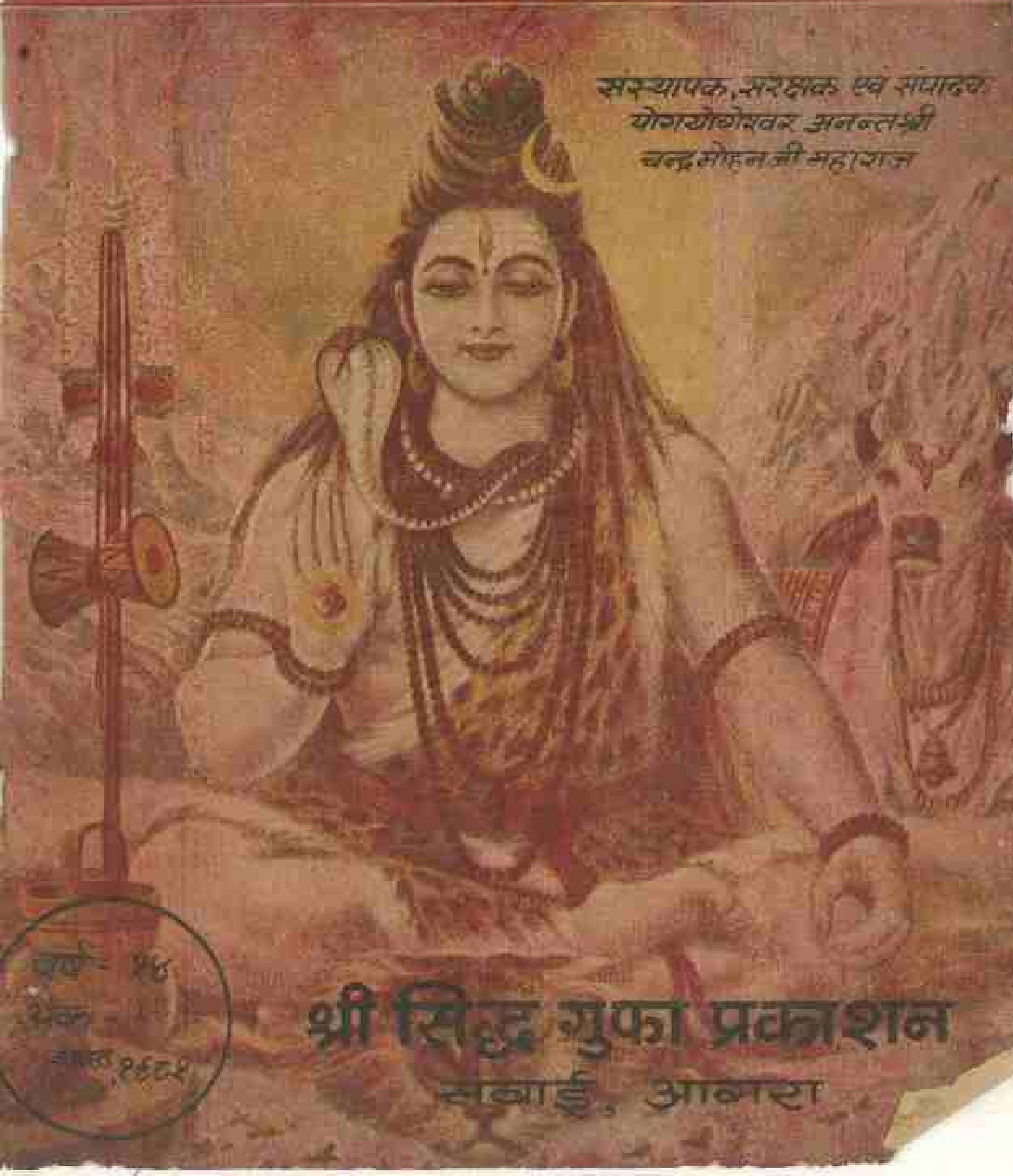

संस्थापक, संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष- २६
अंक

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सवाई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

❁ मुच्यते सर्व पापैः १

❁ योगियों का सिद्ध रस (विशेष लेख)
योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज २

❁ मनोनिग्रह का अभ्यास ५

❁ पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्
संकलित ७

❁ राम नाम आधार
श्री पं० जगदीशशरण बिलगइयां 'मधुप' ६

❁ योगी सावधान !
श्री शिवनाथ मेहरोत्रा १०

❁ हंस-विद्या की महत्ता एवं उसकी प्राप्ति के साधन
श्री पूर्णानन्द पन्त शास्त्री १४

❁ तीव्र संवेग
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा १८

❁ श्री सिद्धगुफा की रज
श्री रामसजीवनसिंह २७

❁ आध्यात्मिकता में श्रद्धा का महत्व
श्री रमेशचन्द्र ओहरी २६

❁ थियोसोफी में सिद्धयोग की भूमिका
डा० श्री विजयसिंह ३१

❁ गुरु-महिमा
श्री पं० रामवृक्ष त्रिपाठी ३३

❁ मणि-मुक्ता (संकलित) ३५

❁ साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर
श्री सद्गुरु देव जी द्वारा ३६

❁ अद्वैत ज्ञान
श्री वैद्य रामधन शर्मा ४१

❁ मन की प्रसन्नता
श्रीमती सरिता भारद्वाज एम. ए. ४५

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

वार्षिक मूल्य : १८ रुपया

सिद्ध योग

वर्ष १४
अङ्क ५

ध्यायं ध्यायं वन्हि परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योरुत विरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् महर्षिविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

अगस्त
१९८१

मुच्यते सर्व पाशैः

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूना यो विदधाति कामान्।
तत् कारणं साख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१२

अर्थात्

जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत से नित्य चेतन-आत्माओं के कर्मफल भोगों का विधान करता है, उस ज्ञान योग और कर्मयोग से प्राप्त करने योग्य सबके कारण रूप परम देव परमात्मा कोजानकर (मनुष्य) सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

यानी ज्ञान योग या कर्मयोग किसी एक साधन में लग-कर जो उन्हें जान लेता या पा लेता है वह कभी जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता।

हमारा विशेष लेख—

योगियों का सिद्ध रस

❀ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग-साधना का उद्देश्य होता है आत्म तत्व को जानकर ब्रह्म-तत्व पा लेना। इसी ब्रह्म-तत्व को शुद्ध परमात्म-तत्व भी कहा गया है। महर्षि पतञ्जलि ने इसी परमात्म-तत्व को 'पुरुष विशेष ईश्वरः' कहकर इंगित किया है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि क्लेश, कर्म, विपाक-आशय से जिसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, वही पुरुष ईश्वर अथवा परमात्म-तत्व कहा जाता है। क्लेश, कर्म, विपाक-आशय से तो जीवात्मा का चिरकालिक सम्बन्ध चला आ रहा है—परमात्म-तत्व का इनसे कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा न कभी आगे रहना सम्भव है। समाधि पाद के २५ वें सूत्र में इस पुरुष विशेष की एक और परिभाषा करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

अर्थात् उस ईश्वर—पुरुष विशेष में—सर्वज्ञता का बीज यानी ज्ञान निरतिशय है। उससे बढ़कर अथवा उसके समान सर्वज्ञता और किसी में भी नहीं है इसीलिए उसे अद्वितीय और अनुपम भी कहा गया है। श्रुति में भी

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्ता।
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

अर्थात् मन से बारम्बार चिन्तन करके ध्यान में लाया हुआ वह परम पुरुष परमात्मा निर्मल और निश्चल हृदय से विशुद्ध बुद्धि के के द्वारा देखने में आता है। जो इसको जानते हैं अमृत स्वरूप हो जाते हैं, यानी वे परमानन्द रूपी रस का पान करके कृतार्थ हो जाते हैं। उन्हें फिर जन्म-मरण के पाशों में आना नहीं पड़ता। लेकिन यह स्थिति आती तब है जब साधक की साधना सतत् और निरन्तर गतिशील रहकर अपनी चरमावस्था पर पहुँच जाती है। योगदर्शन के समाधि पाद के सूत्र १४— 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' को स्थिति को पा लेता है। सूत्र के अनुसार आदर श्रद्धा और प्रेम के साथ बिना किसी व्यवधान और अवरोध के साधक जब साधना की यह दृढभूमि प्राप्तकर लेता है तब ही वह परम-तत्व परमात्मा रूपी आनन्द रस का पान करने का सुअवसर पा सकता है।

उपासना-योग, भक्ति योग अथवा ईश्वर प्रणिधान द्वारा भी साधक तब तक अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर पाता जब तक कि वह साधना की दृढ़भूमि पर अपने पैर नहीं जमा लेता। साधक साधना की दृढ़ भूमि पर पहुँच गया है इसका परिचय उसके आचरण और व्यवहार से हर समय मिलता रहता है। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद् गीता में आनन्द रूपी अमृत का पान कर सकने वाले भक्ति-योग के साधक के लक्षण बताते हुए कहा है—

समः शत्रौ च मित्रे च
तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदु:खेषु
समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी
संतुष्टो येत केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्ति-
मान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं
यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्धाना मत्परमा
भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

अर्थात् जो शत्रु-मित्र में और मान अपमान में, सत्कार और तिरस्कार में समान रहता है एवं शीत उष्ण और सुख-दुःख में भी समभाव वाला है, तथा सर्वत्र आसक्ति से रहित हो चुका है। निन्दा और स्तुति जिसके लिए बराबर हो गई है जो मुनि मननशील संयतवाक् है, अर्थात् वाणी जिसके वश में है, जो सब प्रकार से सन्तुष्ट है, समस्त तृष्णा से जो निवृत्त हुआ है जो स्थान रहित, अर्थात् किसी स्थान से जिसे मोह नहीं है तथा जो स्थिर बुद्धि है और परमार्थ में जिसकी बुद्धि स्थिर हो चुकी है ऐसा उपासक साधक मुझे प्रिय है। क्योंकि ऐसे भक्त या साधक ही धर्मामृत पान के अधिकारी होते हैं।

जगदात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने कुछ इसी प्रकार की बात पन्द्रहवें अध्याय के श्लोक संख्या ५ में ज्ञाननिष्ठ साधक के सम्बन्ध में कही है। वे कहते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

यानी जो मान-मोह से मुक्त हैं, जिनका अभिमान और अज्ञान नष्ट हो चुका है जो मान मोह से रहित हैं, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है। जो नित्य अध्यात्मिक विचार में रत रहते हैं, जो कामनाओं से रहित हैं जो द्वन्द्वों से छूटे हुए हैं, ऐसे साधक उस परम-तत्त्व के परमानन्द रूप पद को प्राप्त कर पाने के अधिकारी होते हैं।

यहां वह तेजोमय परम पद है जहां जाकर साधक को फिर जन्म मरण के बन्धन में नहीं लौटना पड़ता। यही परम-तत्व अव्यय और अक्षर कहलाता है। वेदों में इसी तत्व को आपः ज्योतिः रसः और अमृत कहकर इंगित किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—'रसो वै सः' अर्थात् वह परम तत्व रस रूप है 'रस' शब्द का अर्थ है आनन्द। यः रसयति आनन्दयति स रसः। जो आनन्दित करता है उसे रस कहते हैं। जगत में जो कुछ रस है वह परमात्मा अथवा ब्रह्म का ही रस है इसीलिए उसे रसघन या रसों का महासमुद्र भी कहा गया है। योगीजन समाधि में इसी रस अथवा आनन्द का पान किया करते हैं—यह ब्रह्मानन्द अथवा ब्रह्म रस ही उनका सिद्ध रस अथवा अमृत होता है। इस सिद्ध-रस पान से परितुष्ट होकर ही वे सिद्ध-योगी की पदवी पा जाया करते हैं। वसुन्धरा को इसी रस से परिपूर्ण होने के कारण रसा कहकर पुकारा गया है, जो वनस्पति आदि के माध्यम से समस्त प्राणि-जगत को सरस बनाती है। संसार में जितनी भी सरसता दिखलाई पड़ती है वह सबका उद्गम वह रसघन परमब्रह्म परमात्मा ही है। पर, इस तथ्य को कितने जन जान पाते हैं कि यदि जीवन को सरस और सुखद बनाना है तो हमें स्वयं इसी ब्रह्मरस अथवा सिद्धरस से अपने को परितृप्त करना होगा। बिना अपनी तृप्ति अथवा तुष्टि किये तुम औरों को परितृप्त कैसे कर सकोगे। प्रभु का आदेश है कि तुम जीभरकर इस आनन्द रूपी महा रस का स्वयं पान करके औरों को भी इसे पान करने के लिए प्रेरित करो। तुम्हारे मानवीय कर्त्तव्यों की शृंखला की यह भी एक कड़ी है कि तुम देवासुर-संग्राम की तरह इस रस-सागर में से रस-कलश को भरकर केवल अपने लिए ही ले जाने की कोशिश मत करो किन्तु लोकहित के लिए इसे सभी दिशाओं में प्रवाहित कर दो। सिद्धयोगियों की ऐसी ही परम्परा होती है। अपने लिए नहीं किन्तु लोक-कल्याण के लिए ही वे नर देह धारण करके पृथ्वीतल पर आते और अपने सहज धर्म के रूप में कर्त्तव्य पालन करके पुनः अपने निज लोक को लौट जाया करते हैं। हम सबके परम पूज्य योगयोगेश्वर महाप्रभुजी ऐसी ही दिव्यात्माओं से हैं, जिनके सम्बन्ध में योगिराज श्रीकृष्णचन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है -

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं
त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं
वर्त एव च कर्मणि॥

अर्थात् हे पार्थ तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है क्योंकि मुझे कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी है तो भी मैं कर्मों में वर्तता हूं।

सिद्धयोगियों का लक्षण भी यही है कि वे पीड़ित और दुःखी जनों की कल्याण कामना के लिए कालक्रमानुसार इस भूतल पर विमुक्त और विदेह होते हुए भी नर देह धारण करके अवतरित होते रहते हैं। हमारे देश में महान अवतारों के अवतरण का उद्देश्य भी तो यही था। महान आत्माओं, सिद्धयोगियों अथवा श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण ही तो लोक के लिऐ आदर्श बना करता है। महाप्रभुजी का करुणा से ओत-प्रोत लोक जीवन योग मार्ग के सभी साधकों के लिए आदर्श और अनुकरणीय जीवन के रूप में हम सबके सामने है। उनकी शिक्षा और आदर्शों को आत्म-सात करके ही सतत् योग साधना, त्याग एवं वैराग्य की भावना को संबल बनाकर ही तुम इस भूतल के सार उस सिद्ध रस के पान करने के अधिकारी बन सकते हो जिसका अपर नाम आनंद और अमृत है। बिना इस आनन्द के न कोई आनन्दित रह सकता है न औरों को आनंदित करके अपने मानवोचित कर्त्तव्य का पालन कर सकता है। अतः भगवान कृष्ण के इन शब्दों को सदा याद रखो—

रसोहमप्सु कौन्तेय,
प्रभास्मि शशि सूर्ययो।

परमप्रभु रस रूप है ज्योतियों की ज्योति है, अतः तुम इसी रस और ज्योतिसे अपने आत्म-तत्व को परितृप्त और जाग्रत एवं जगमग करने की सहज चेष्टा करते रहो--तुम्हारी साधना का यही लक्ष्य होना चाहिए।

मनोनिग्रह का अभ्यास

गीता की यह शिक्षा कि, सच्चा संन्यास आसक्ति रहित कर्म में है, संसार का त्याग करने में नहीं, कोई ऐसी उपपत्ति नहीं है, जिसे संसार का त्याग करने के अनिच्छुक लोगों के समर्थन अथवा सफाई के लिए प्रस्तुत किया गया हो। वह मनुष्यों के जीवन को प्रत्यक्षतः गढ़ने के लिए आधार के रूप में प्रतिपादित की गई है, जिससे कि उनमें निःस्वार्थता और अलिप्तता की आदत तथा स्फूर्ति विकसित हो। बत्तख पानी में तैरती है, परन्तु बाहर निकलने पर अपने शरीर का सब पानी झाड़ देती है। हमें उसी के समान संसार में रहना सीखना चाहिए। हमारे काम में दक्षता, सुघरता और कुशलता का अभाव न हो और फिर भी हम स्वार्थपूर्ण आसक्ति को विकसित न होने देने के लिए सतर्क रहें। अलिप्तता का यह भाव कायम रखने के लिए मनोनिग्रह का सतत् अभ्यास आवश्यक है।

काम, क्रोध और लोभ अच्छे संकल्प के शत्रु हैं। जो मनुष्य अपने अन्दर अनासक्ति

का विकास करना चाहता है, उसे मन को क्षुब्ध करने वाले इन विकारों से सतत सावधान रहना चाहिए। यदि मन पर नियन्त्रण हो गया तो शेष सब स्वयं सुधर जायगा। विचारों की शक्ति अच्छाई और बुराई दोनों ही के लिए बहुत बड़ी होती है। यदि मन पर सावधानी के साथ पहरा न रखा गया तो कामना इन्द्रियों को वश में कर लेगी, हमारे विचारों पर अधिकार जमा लेगी, हमारी बुद्धि को भ्रष्ट कर देगी और अन्त में हमारा नाश कर देगी। इसलिए कामना के साथ युद्ध उसी समय छेड़ देना चाहिए जबकि वह हमारे विचार मन्दिर में प्रवेश करने के लिए द्वार पर आकर खड़ी हो।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

इन्द्रियों का स्वभाव इतना प्रबल है कि चतुर पुरुष के सचाई के साथ उद्योग करते रहने पर भी वे उसके मन को बलपूर्वक हर लेती है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

इन सबको वश में रखकर उसे शान्त मन से और मुझ में तन्मय होकर रहना चाहिए। जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है उसकी बुद्धि स्थिर है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

जब कोई मनुष्य अपने मन को विषयों के चिन्तन में लगा देता है तो उसे उनमें आसक्ति होती है। आसक्ति कामना में परिणत होती है और कामना से क्रोध के कारण उत्पन्न होते हैं।

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। मूढ़ता से स्मृति और बोध-शक्ति भ्रान्त हो जाती है। इस भ्रान्ति से विवेक-शक्ति का नाश होता है और विवेक-शक्ति नष्ट हो गई तो मनुष्य का नाश हो जाता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

भटकती हुई इन्द्रियों के पीछे दौड़ने वाला मन मनुष्य की बुद्धि को अपने साथ खींच ले जाता है, जैसे तूफान समुद्र में जहाज को खींच ले जाता है। ☼ ☼

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

[मनुस्मृति के आदेश]

न वारयेद् गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् ।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद् बुधः ॥

जल पीती हुई गाय को न हाँके और न दूसरे को बतावे, आकाश में इन्द्र-धनुष देखकर किसी को न दिखावे (आँख की हानि होती है) ।

× × × ×

नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥

अधर्मियों के गाँव में न बसे, न ऐसे गाँव में रहे जहाँ बीमारी बहुत फैली हो । न अकेला राह चले । चिरकाल तक पर्वत पर भी वास न करे ।

× × × ×

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नाति सौहित्यमाचरेत् ।
नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥

चिकनाई निकले हुए पदार्थ को न खाये । अधिक पेट भरके भोजन न करे । सूर्योदय तथा सूर्यास्त समय में भोजन न करे । और यदि प्रातः काल अधिक खा लिया हो तो सायंकाल न खावें ।

× × × ×

न मृल्लोष्टं च मृद्नीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् ।
न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥

उँगलियों से न मिट्टी के ढेले को फोड़े, न तिनके को तोड़े । अर्थात् उँगलियों से मिट्टी फोड़ना या तिनका तोड़ना ठीक नहीं । कोई कर्म बिना प्रयोजन के न करे न ऐसा काम करे जिससे भविष्य में दुःख का उदय हो ।

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥

उपर्युक्त रीति से मिट्टी के ढेले को मसलने वाला, तिनके को तोड़ने वाला, और जो मनुष्य अपने नाखून को चबाता है वह और चुगलखोर एवं वह जो बाहर-भीतर की अशुद्धि रखता है। शीघ्र नष्ट हो जाता है।

× × × ×

न विगह्य कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत् ।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥

उद्दण्डता से बात न करे। माला बाहर की ओर न पहने। गायों की पीठ पर सवारी करना निन्दनीय है।

× × × ×

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वाऽवृतम् ।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥

ऐसे गांव या घर में जिसके चारों ओर परकोठा खिंचा हो, द्वार को छोड़कर अन्य किसी रीति से अर्थात् कूद फांदकर न जावे। रात के समय वृक्ष की जड़ों को दूर से ही त्याग दे।

× × × ×

नक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥

कभी जुआ न खेले। जूतों को हाथ में लेकर न चले। चारपाई पर बैठ कर न खावे। हाथ में एक बार बहुत सा लेकर थोड़ा थोड़ा करके जैसा बहुत से किया करते हैं न खावे। आसन पर थाली रखकर भी न खावे।

× × × ×

सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ।
न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥

रवि के अस्त होने पर कोई तिल वाली चीज न खावे। नंगा कभी न सोवे। न झूठे मुँह कहीं जावे।

卐 卐 卐

❀ राम नाम आधार ❀

❀ श्री पं० जगदीशशरण बिलगइयां 'मधुप'

(१)

एक धन, राम नाम आधार,
जगत के सब धन हैं बेकार ।
जगत पिता श्री शुम्भु, शिवापति,
किया कण्ठ का हार । एक धन—
श्री नारद ने, ना रा य ण रट,
जीता रति भर्तार ।
ध्रुव, प्रहलाद, अजामिल, गणिका,
किया नाम से प्यार । जगत के—
मीरा का इकतारा बोला,
राम रतन धन सार ।
राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा ने कुछ,
किये दनुज संहार । जगत के—
कवि जगदीश शरण हरि हर रट,
हुए कोटि जन पार ॥ एक धन—

(२)

☼ राम नाम ☼

पिय बिन नारी जैसे, कण्ठ बिन गारी जैसे ।
दूध बिन ब्यारी जैसे, शोभा बिन धाम है ॥
चन्द्र बिन रैन जैसे, भ्रात बिन बैन जैसे ।
युक्ति बिन कैन जैसे, दाम बिन काम है ॥
धनु बिन बाण जैसे, कटि बिन कृपाण जैसे ।
राधा बिन कृष्ण जैसे, भोर बिन शाम है ॥
कवि ज ग दी श मित्र, क्षण को विचार करो ।
अधम शरीर जैसे, बिना राम - नाम है ॥

संकेत— (१) ब्यारी = रात्रि का भोजन (२) कैन = कहना ।

❊ योगी सावधान ! ❊

❀ ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा

योगी सदा सावधान रहता है। सही अर्थों में वह धार्मिक होता है। धर्म के चार चरण हैं—विद्या, दान, तप एवं सत्य।

'विद्या दान तपः सत्यं
धर्मस्येति पदानि च ॥'

(श्रीमद्भागवत् स्कन्ध, ३-१२, -४१)

विद्या का तात्पर्य है—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता
दण्डनीतिस्तथैव च ॥

(श्रीमद्भागवत् ३-१२-४५)

आन्वीक्षिकी विद्या मोक्षप्रदा आत्म-विद्या है। जैसे अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा किसी पदार्थ का अणु देखते है तो वह १०-२० हजार गुना तक बड़ा दिखाई पड़ता है और इससे वस्तु के सम्यक् ज्ञान में मदद मिलती है वैसे ही योगी हर सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं वृहदातिवृहद् तत्त्व का साक्षात्कार करता हुआ ब्रह्मत्व प्राप्त करता है।

त्रयी विद्या कर्मयोग के आश्रम से समस्त सुखोपभोग, स्वर्ग सुख प्रदान करती है। योगी ब्रह्मत्व प्राप्ति से पूर्व ही समस्त अभिलाषाओं की तुष्टि से सन्तुष्ट, सम्पूर्ण हो जाता है, तभी निज ब्रह्म स्वरूप में—प्रशान्त रूप में दृढ़ स्थिति का अन्तिम संकल्प करता है। कर्मयोग का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक कर्म अपना प्रभाव देता ही है। योगी कर्मों के शुभाशुभ प्रभावों पर नियन्त्रण करने की भी विद्या या पद्धति जानता है। और तो और कर्मों का केवल शुभ फल प्राप्त कर अशुभ कर्मफलों को दग्ध भी कर सकता है।

वार्ता-विद्या वह विद्या है जिससे धनोपार्जन होता है। योगी को किसी दूसरे के समक्ष हाथ फैलाना नहीं पड़ता। अपनी इच्छा के अनुरूप व्यवस्था ये वह वार्त्ता विद्या से बनाता है। महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज अपने पूर्वावस्था में ज्योतिष एवं फलादेश कथन करते थे परन्तु उत्तरावस्था में वार्त्ता-विद्या की उच्चतर पद्धतियों से इच्छा मात्र से उपयुक्त व्यवस्थायें कर लेते थे।

दण्डनीति वह विद्या है जिसे आजकल राजनीति कहा जाता है। योगी अपने प्रभाव का परिचय समाज व देश को देता है। भलों

को वरदान व दुष्टों को आवश्यकता पड़ने पर शिक्षण देने में भी वह तत्पर होता है।

अर्थात् योगी एक पूर्ण पुरुषत्व का बोधक शब्द है और यह पूर्णता उसे सतत सावधानता से ही प्राप्त होती है एक कदम चूके कि खड्ड में गिरे।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गम् पथस्तत् कवयो वदन्ति॥

छुरे की धार - तीक्ष्ण धार पर चलने जैसे दुर्गम पथ पर वह चलता है ऐसा कविलोगों का कहना है।

ब्रह्मा के चार मुखों से चार विद्यायें उत्पन्न होती हैं। तथा उनके हृदयाकाश से ॐकार प्रकट हुआ।

प्रणवो ह्यस्य दहृतः।

(श्रीमद्भागवत् ३-१२-४४)

पहले पुरुष ब्रह्मा की उत्पत्ति, बाद में उनकी चारों विद्याओं का उनके मुखों से जन्म होने के बाद ही प्रणव का प्राकट्य हुआ।

स्पर्शास्तस्या भवज्जीवः
स्वरो देह उदाहृतः।
ऊष्माणमिन्द्रियाण्या-
हुरन्तःस्था बलमात्मनः॥
स्वरा सप्त विहारेण
भवन्ति स्म प्रजापतेः।

(श्रीमद्भागवत् ३-१२-४६, ४७)

ब्रह्मा का जीव स्पर्श-वर्ण हुआ अर्थात् क ख ग घ ङ आदि क वर्ग, च छ ज झ ञ युक्त च वर्ग, ट ठ ड ढ ण युक्त ट वर्ग, त थ द ध न युक्त त वर्ग, प फ ब भ म युक्त प वर्ग ये पांचों वर्गों में समन्वित स्पर्श-वर्णात्मक उनका जीव है। एवं अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः रूपी षोडश वर्णात्मक स्वर वर्ण उन ब्रह्मा का देह है। ब्रह्माजी की इन्द्रियों को ऊष्मवर्ण अर्थात् श ष स ह समन्वित जानना चाहिए। उनके बल को अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् य र ल व वर्ण रूप समझना चाहिए।

अब योगी को अपने शिवत्व प्राप्ति के क्रम में चलने के लिए सबसे पहले अपनी इन्द्रियों को अधिकार में करना होता है। अतः श ष स ह का साक्षात्कार वह मूलाधारचक्र में करता है। यहां साधना करने से इन्द्रियों की शक्ति में प्रबल उद्रेक होता है। कामशक्ति भी अत्यधिक जाग्रत हो जाती है। अब पहले ही कदम पर योगाभ्यासी चूका तो लक्ष्य से भ्रष्ट हो जायेगा। इन्द्रियों को सशक्त कर लेने में वह सफल हो गया तो उसमें बल का संचार होगा। जब वह ऊपर वाले चक्रों

में चढ़ेगा तो उसमें बल का संचार होगा। 'य र ल व' ब्रह्मा जी के बल का वाचक है। वर्णों के रूप में स्वाधिष्ठान चक्र में ये चारों तो है ही। 'भ म' वर्ण भी हैं। य र ल व रूपी बल वास्तव में सुषुम्णा में चक्रों के केन्द्रों मेंस्थित बीज है। 'य' वायुचक्र अर्थात् अनाहतचक्र में स्थित वायु मण्डल का बीज है। 'र' अग्निचक्र अर्थात् मणिपूरचक्र में स्थित अग्निमण्डल का बीज है 'ल' पृथ्वीचक्र अर्थात् मूलाधारचक्र में स्थित भूमण्डल क बीज है 'व' वरुणचक्र अर्थात् स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित जलमण्डल का बीज है अतः मूलाधारचक्र से 'ल' स्वाधिष्ठान से 'व' मणिपूर स 'र' और अनाहत से 'य' वर्णात्मक साक्षात्कार करत हुआ योगी सम्पूर्ण स्पर्शवर्णों का यात्रा-पथ पूर्ण कर वास्तव में बल अथवा शक्ति प्राप्त कर लेता है।

इससे ऊपर स्वर वर्ण के क्षेत्र में वह विशुद्ध चक्र के आश्रम में पहुँचता है तो ब्रह्मा की देह में पहुँचता है। अर्थात् स्वतः को ब्रह्मवत् समझने में समर्थ होता है। अब वह अपने देह में रहता हुआ दीखने पर भी वस्तुतः ब्रह्म देह में अधिष्ठित हो जाता है। प्रणव अर्थात ॐकार से जो साक्षात्कार वह अनाहत चक्र में उपलब्ध कर चुका है उसे अब वह मुक्तिरूप में प्रयोग करने में समर्थ होता है।

विशुद्धचक्र से ऊपर आज्ञाचक्र में योगी जब अपने संकल्प से प्रवेश करत ह तब उसे ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हो जाती है यहीं अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी में आकर वह ब्रह्मपुरुष सदाशिवत्व पाने में समर्थ होता है। यहीं पर 'मन' की अवस्थिति है। यह मन जीवत्व से बँधा हुआ नहीं है। यह 'विश्व-मन' है। यहां सब कुछ का स्रोत, उद्गम स्थान है। कुछ भी पराया नहीं है। सब कुछ अपने अन्दर है। सब कुछ अपना है। यहाँ पुरुष-नारी भेद नहीं है। यह वह क्षेत्र है जहां सभी ज्ञानों का प्रकाश एकत्र है।

इससे ऊपर गुरु-चक्र में स्थित सद्गुरुदेव के चरणों का स्पर्श पाने के बाद सदाशिवत्व के भाव से भी मुक्त होकर संकल्प रहित हो योगी परात्पर दिव्य-ज्योति से अखण्डता प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवत में वर्णित यह गुप्त मार्ग सद्गुरु के आश्रय से ही स्पष्ट होता है और योगी के परम लाभ का हेतु है।

महान योगिराज श्री तैलंग स्वामी जी ने इस मार्ग के सम्बन्ध में जो कुछ आदेश दिया है उसे उन्हीं के शब्दों में पढ़े—

"योग शब्द का अर्थ है तन्मय हो जाना। तन्मयत्व भाव हृदय में न बसे तो योग नहीं होगा और यदि हुआ तो भी कार्यकारी नहीं

होगा। यदि सम्मद हो सको और ईश्वर मे तथा तुममें किसी प्रकार का भेद न रहे तो तुम योग-शिक्षा द्वारा सुफल लाभ कर सकते हो और योग शिक्षा के प्रकृत अधिकारी बन सकते हो। योग सम्बन्ध में जितने नियम हैं उनमें षट्चक्र भेदन सर्व प्रधान है। षट्चक्र-भेदन कर सकने से दूसरी किसी साधना का प्रयोजन नहीं। केवल एकमात्र षट्चक्र भेदन कर सकने से स्वर्गराज्य पर अधिकार करने का सामर्थ्य मिल जाता है। षट्चक्र योग-शास्त्र का सर्वस्व है। जो षट्चक्र-भेदन कर सकते हैं निर्वाण मुक्ति मिलना उनके लिए सरल है। षट्चक्र भेदन कर वह चिदानन्द स्वरूप पर-ब्रह्म का साक्षात पाने का अधिकारी होता है जो समस्त वृत्तियों का प्रयोजन है उनमें बिन्दुमात्र व्यतिक्रम होने से वह साधित नहीं होता। उपयुक्त व्यक्ति बिना परिश्रम से षट्चक्र भेदन कर सकता है।"

स्पष्ट है कि योगी के लिए जरा सी चूक भी मँहगी पड़ती है। उसे सँभल-सँभल कर अपने पाँव बढ़ाने होंगे। जो सँभल कर बढ़ता रहेगा वह बिना श्रम सब कुछ पा जायेगा।

卐 प्राण और ध्यान 卐

प्राण की गति ध्यान के साथ होती है। साधक हृदय में ध्यान करे, तो प्राण कण्ठ के नीचे जाने लगता है। जब प्राण हृदय की ओर बढ़ता है तो सिर को नीचे की ओर प्राण ही झुका देता है। हृदयाकाश के प्रकाशामृत में, मन स्थिर होने से प्राण सूक्ष्म होकर, सम्पूर्ण शरीर की विषमता दूर कर देता है। वात, पित्त और कफ को सम रखता है। प्राण सूक्ष्म गति से नासिका में चलने लगता है। प्राण की गति में भी मृदु मधुर आनन्द प्रतीत होता है। प्राण सात्विक सूक्ष्म और प्रकाश युक्त हो जाता है। शरीर और मन को स्वस्थ रखने वाला प्राण ही है। यही प्राण मन को ब्रह्मामृत का पान कराता है। शरीर की गति प्रकाश और नाना प्रकार की ध्वनि कानों में पहुँचाने का कारण प्राण ही है। प्राण के कारण से ही ध्यान में शरीर तक प्रफुल्लित रहता है। साधक जहां पर मन रोके वहीं पर प्राण भी रुकने लगता है। प्राण और मन का अटूट सम्बन्ध है। इसीलिए कहा है—

यत्र मनो लीयते तत्र प्राणो लीयते।

—स्वामी निर्गुणानन्द

❊ हंसविद्या की महत्ता ❊

एवं

उसकी प्राप्ति के साधन

❀ श्री पूर्णचन्द पन्त शास्त्री

'हंस' पद परम प्रकाश स्वरूप परमेश्वर का वाचक है। अतः हंसविद्या का अर्थ है – अध्यात्मविद्या। ब्रह्मविद्या एवं योगविद्या भी इसी के पर्यायवाची हैं। ईश्वर प्राप्ति के निमित्त किये जाने वाले सभी साधनों को शास्त्रों में 'योग' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है। योगसाधना में हंस मन्त्र का विशेष महत्व है, उपनिषदों में हंसविद्या की महिमा का वर्णन करते हुए यह बात सिद्ध की गई है कि– हंस ही परम वाक्य है, हंस समस्त वेदों का सार है, हंस परम रुद्र है और हंस ही परमात्मा है, समस्त देवताओं के मध्य में हंस ही परमेश्वर है। हंस की अनुपम ज्योति सभी देवताओं के मध्य में स्थित है। पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में कहा गया है—हंस परमात्मा का स्वरूप है जो कि– श्वासों के रूप में जीव के बाहर–भीतर चलता रहता है। भीतर जाने पर अनवकाश वाले स्थान पर यह हंस सुपर्ण (ईश्वर) स्वरूप होता है। हंस का जप ही वर्ण-ब्रह्म है, इसी से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, भीतर से होने वाले प्रणवरूपी नाद से जो हंस विदित होता है वही सब ज्ञान कराने वाला है, प्रणव और हंस में कोई अन्तर नहीं है, प्रणवरूप हंस का अनुध्यान किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

अतः योगाभ्यासी साधक को चाहिए कि– वह निम्नलिखित विधि से प्रणवरूप 'हंस' की उपासना करे –

प्रकृतिं पुरुषे स्थाप्य
पुरुषं ब्रह्मणि न्यसेत्।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः
प्रसंख्याय विमुच्यते॥
यः सर्वभूतचित्तज्ञो
यस्य सर्वं हृदि स्थितः।
यस्य सर्वान्तरे ज्ञेयः
सोऽहमस्मीति चिन्तयेत्॥

अर्थात् प्रकृति (मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि) को पुरुष (आत्मा) में और पुरुष को परमात्मा में अर्पित करके तथा "परम ब्रह्ममय, अखण्ड ज्योति परमात्मा मैं ही हूँ" इस प्रकार का चिन्तन करता हुआ साधक आत्मज्ञान से मोक्ष पा जाता है।

जो प्रभु प्राणिमात्र के चित्तों का ज्ञाता है एवं प्राणिमात्र के हृदय में जिनका निवास है और जो अन्तर्यामी हैं उनका "सोऽहं" भाव से चिन्तन करता हुआ मनुष्य अवश्य कल्याण का भागी बन जाता है।

हंस विद्या का अधिकारी कौन ?

हंसोपनिषद् में एक उपाख्यान आता है। जिसमें गौतम ऋषि जी की जिज्ञासा पर सनत्कुमार जी ब्रह्मविद्या का रहस्य प्रकट करते हुए कहते हैं—

समस्त देहों में यह जीव 'हंस-हंस' जपता हुआ व्याप्त रहता है, जैसे कि—काष्ठ में अग्नि और तिलों में तेल व्याप्त रहता है। इसे जानकर मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है, जो व्यक्ति ब्रह्मचारी हो, शान्त हो, जितेन्द्रिय हो और गुरुभक्त हो उसी के सम्मुख हंस और परम हंस का रहस्य प्रकट करना चाहिए।

यही बात ब्रह्मविद्योपनिषद् में कही गई है। यथा:—

एतत्तु परमं गुह्यं
एतत्तु परमं शुभम् ।
नातः परतरं किंचित्
नातः परतरं शुभम् ॥
गुरु भक्ताय देशाय
नित्यं भक्तिपराय च ।
प्रदातव्यमिदं शास्त्रं
नेतरेभ्यः प्रदापयेत् ॥

यह सबसे गुह्य रहस्य है, यही सर्वाधिक शुभ है, इससे आगे और कुछ नहीं है और इससे बढ़कर कल्याणकारी कुछ भी नहीं है। यह विद्या उसी को देनी चाहिए जो गुरुदेव का सच्चा भक्त हो एवं सदा भक्ति परायण रहता हो, अन्य किसी को नहीं देनी चाहिए।

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है:—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥

श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेव को चाहिए कि-अपनी शरण में आये हुए ऐसे शिष्य को जिसका चित्त पूर्णतया शान्त हो चुका हो, सांसारिक भोगों में सर्वथा वैराग्य हो जाने के कारण जिसके चित्त में किसी प्रकार की चिन्ता, व्याकुलता या विकार नहीं रह गये हों जो तपस्वी हो, स्वाध्यायशील हो तथा जिसने अपने और इन्द्रियों को भली-भांति वश में कर

रखा हो, उसे ही उस ब्रह्मविद्या का तत्वपूर्वक उपदेश करना चाहिए, जिससे वह शिष्य नित्य अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम को जान सके।

हंसविद्या एवं गुरुभक्ति

अनन्य गुरुनिष्ठ सुपात्र शिष्य ही इस अमर विद्या को प्राप्त कर सकता है। उपनिषदों का वचन है—

हंसविद्यामृतालोके नास्ति
नित्यत्व साधनम्।
यो ददाति महाविद्यां
हंसाख्यां पावनीं पराम्॥
तस्य दास्यं सदा कुर्यात्
प्रज्ञया परया सह।
हंसविद्यामिमां लब्ध्वा
गुरुशुश्रूषया नरः॥
आत्मानमात्मना साक्षात्
ब्रह्मबुद्ध्वा सुनिश्चितम्।
देह जात्यादि सम्बन्धान्
वर्णाश्रमसमन्वितान्॥
वेदशास्त्राणि चान्यानि
पदपांशुमिव त्यजेत्।
गुरुभक्तिं सदा
कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः॥
(ब्रह्मविद्योपनिषद्)

हंसरूपी विद्यामृत के समान संसार में नित्यत्व का (अमर होने का) अन्य कोई साधन है। जो इस हंसरूपी महाविद्या को देता है, उसकी सदैव ज्ञानपूर्वक सेवा करनी चाहिए। साधक का कर्त्तव्य है कि वह गुरुदेव से इस अमर विद्या को प्राप्त करके आत्मा से आत्मा का साक्षात्कार करता हुआ निश्चय ब्रह्म को जानने का प्रयत्न करे। देह-जाति सम्बन्धी वर्णाश्रम के नियमों तथा वेद और शास्त्रों की उपेक्षा करता हुआ गुरुदेव की श्रद्धापूर्वक सेवा करे। इसी से मनुष्य का सच्चा कल्याण होता है। क्योंकि:—

हरिरेव गुरुः साक्षान्नान्य
इत्यब्रवीच्छ्रुतिः।

श्रुति में कहा गया है कि गुरु ही साक्षात् ईश्वर है कोई अन्य नहीं है। इसलिये—

श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेतत्
तत्संशयो नात्र ततः समस्तम्।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणम्
भवेदनर्थाय विना प्रमाणम्॥

श्रुति ने जो कुछ कहा है वह परमार्थ रूप ही है इसमें कोई सन्देह नहीं है। श्रुतिविरोधी कोई बात प्रामाणिक नहीं हो सकती अप्रामाणिक बात अनर्थकारी ही होती है।

अतः कल्याणकामी व्यक्ति को चाहिए कि-वह सर्वतोभावेन गुरुचरणों मे अनुरक्त रहे। गुरुभक्त साधक ही इस अमर विद्या को प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में अखिल ब्रह्माण्डनायक योगेश्वर श्रीकृष्ण का यह आदेश है:—

तद्विद्धि प्रणिपातेन
परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं
ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥

हंस–मन्त्र एवं अजपागायत्री

जीव स्वभाव से ही 'हंस–हंस' इस मन्त्र को जपता रहता है किन्तु इसका उसे अनुभव नहीं होता। अभ्यासपूर्वक किया जाने वाला यही जप कालान्तर में "सोऽहं" में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार के जप को अजपा–गायत्री कहा जाता है। उपनिषदों में इस विषय को विस्तार पूर्वक समझाया गया है। यथा:—

हकारेण बहिर्याति
सकारेणविशेत्पुनः ।
हंस-हंसेत्यमुं मन्त्रं
जीवो जपति सर्वदा ॥
षट्शतानि दिवा रात्रौ
सहस्त्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं
जीवो जपति सर्वदा ॥
(योगचूड़ामण्युपनिषद्)

प्राणवायु हंकार ध्वनि से बाहर आता है और सकार ध्वनि से भीतर जाता है। इस प्रकार जीव सदैव 'हंस-हंस' इस मन्त्र का जाप करता रहता है। इस प्रकार वह एक दिन रात्रि में २१६०० मन्त्र जपता है।

अजपा नाम गायत्री
योगिनां मोक्षदा सदा ।
अस्याः संकल्पमात्रेण
सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
अनया सदृशी विद्या
अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं पुण्यं
न भूतो न भविष्यति ॥

इसका नाम अजपा गायत्री है, जो योगियों को मोक्ष प्रदान करती है। इसके संकल्प मात्र से ही सब पापों से छुटकारा मिल जाता है। इसके समान अन्य कोई विद्या नहीं है, इसके समान कोई जप नहीं है और इस जैसा पवित्र ज्ञान न अब तक हुआ है और न होगा ही।

कुण्डलिन्या समुद्भूता, गायत्री प्राणधारिका। प्राणविद्या,यस्तां वेत्ति स वेदवित्।

कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई यह गायत्री प्राणधारिणी प्राणविद्या है, जो इसको जानता है, वही वेदों का जानने वाला है। इसलिये कहा गया है—

हंसविद्यामृतालोके
नास्तिनित्यत्वसाधनम्।

☼ ☼ ☼ ☼

तीव्र संवेग

श्री आचार्य चन्द्रहास शर्मा एम. ए. एम-एड.

वह दर्द क्या जो कहीं हो कहीं न हो। दर्द वह है जो हर रग में हर धड़कन में समाया हो और हर श्वास में आह बनकर निकले। जीवन की बहुमूल्य सम्पत्ति सुख और सम्पदा नहीं है अपितु दुःख और दर्द सर्वाधिक महत्व-पूर्ण धन है। दुःख और दर्द में मन रूपी सोना तपकर कुन्दन बनता है। दुःख दर्द और पीड़ा जितनी तीव्र और घनीभूत होती जाती है, अन्तःकरण उतना ही पवित्र और शक्ति-ग्रहण का अधिकारी बनता जाता है। इसीलिए सन्तों ने भगवान से सुख की अपेक्षा दुःख अधिक मांगा है—

सुख के माथे सिल परे, नाम गांठ ते जाय।
बलिहारी वा दुःख की, पल-पल नामरटाय॥

द्रौपदी पर भगवान प्रसन्न होकर बोले— तुम्हारी अनन्य निष्ठा को देखकर आज तुम्हें अभीप्सित वरदान देने की इच्छा हो रही है, देवि! जो चाहो, आज मांग लो। द्रौपदी की प्रसन्नता की सीमा न थी। वह हाथ जोड़कर सविनय बोली—हे नाथ! यदि आप मुझ पर करुणा कर रहे हैं तो मुझे आपत्तियां और दुःख देते रहिये जिससे मेरी भक्ति, तथा मेरे स्मरण भजन में उत्कण्ठा और तीव्रता बनी रहे। क्योंकि आप बिना तीव्र संवेग के दर्शन नहीं देते। योगदर्शन में भगवान पतञ्जलि का सूत्र—

तीव्रसंवेगानाम् आसन्नः ।

(सूत्र १/२१)

इसका साक्ष्य है। श्रीमद्भागवत पुराण भी इसकी गवाही देता है। काम, क्रोध, लोभ भय तथा श्रद्धातिरेक से मन तत्क्षण एकाग्र हो जाता है जिससे शीघ्र समाधि-लाभ तथा ईश्वर प्रणिधान होता है। लोक में रामायण की उक्ति प्रसिद्ध है—

'अतिशय रगड़ करे जो कोई।
अनल प्रकट चन्दन ते होई॥'

निरन्तर नियमपूर्वक किये गये तीव्रतम अभ्यास से क्या नहीं सम्भव हो सकता है? चन्दन कितना ही शीतल क्यों न सही, तीव्रता से रगड़ करने पर शीतल चन्दन से अग्नि प्रकट हो ही जाती है।

करत - करत अभ्यास के,
जड़मति होत सुजान ।
रस्सी आवत जात से,
सिल पर परत निशान ॥

कुए पर रस्सी तीव्रता से कुए की ऊपरी शिला से रगड़ती रहती है जिसके परिणाम-स्वरूप शिला पर रस्सी के घर्षण से गहरे निशान पड़ जाते हैं। इसी प्रकार नियमानुवर्तिता से जो साधक साधनारत रहता है उसे शीघ्र समाधि-सिद्धि हो जाती है।

तीव्रसंवेग से किये गये शक्तिपातसे शक्ति का प्राकट्य अवश्य होता है किन्तु बिना तीव्रतम संवेगजन्य अभ्यासके शक्ति का अधिष्ठान ठोस नहीं बन पाता। यही कारण है कि सिद्ध-योग के मार्ग में शक्तिपात से साधकों में उच्च से उच्च स्थितियों के रूप में शक्ति का उत्थान होता है किन्तु कालान्तर में 'अनभ्यासे विषं विद्या' के नियमानुसार अभ्यास के अभाव में अथवा तीव्र मनोवेग-पूर्वक अभ्यास के बिना शक्ति नष्ट हो जाती है। घड़े में यदि छोटा भी छिद्र हो तो शनैः-शनैः बूंद-बूंद कर सारा पानी निकल जाता है। योग-सिद्धि के लिए तीव्रतम वैराग्य तथा तीव्रसंवेग पूर्वक किये गये दृढ़ अभ्यास की आवश्यकता है। क्षणिक वैराग्य के आवेग में जो घर द्वार छोड़कर साधना के लिए निकल पड़ते हैं वे थोड़े समय में भटक जाया करते हैं और अपना मार्ग बदल कर 'पुनर्मूषको भव' की उक्ति को चरितार्थ कर जटा कमण्डलु छोड़कर पक्के संसारी बन जाते हैं। श्मसान वैराग्य, मर्कट वैराग्य है। सच्चा वैराग्य ज्ञान और विवेक के संवेग से उत्पन्न होता है।

तीव्र संवेग का स्वरूप —

अभ्यास और वैराग्य को पुष्ट करने वाले सारे कर्मों—यज्ञ, जप, तप, ध्यान, धारणा तथा समाधिनिष्ठा को सात्विक भाव से धैर्य एवं उत्साहपूर्वक आलस्य रहित होकर तेजी से किया जाय जिसमें बुद्धि और मन का पूर्ण-योग हो तो वह तीव्रसंवेग के कर्म कहलायेंगे। जैसे धनुष में से आकर्ण प्रत्यंचा को खींचकर छोड़ा गया तीर लक्ष्य वेध कर देता है, वैसे ही पूर्ण श्रद्धा से उत्साह तथा विवेक-पूर्वक किया गया अभ्यास शीघ्र समाधि लाभ का जनक बनता है। बरसात में नदी में जिस प्रकार बाढ़ आती है वैसे ही मन में तीव्र वेग हो, समुद्र पी जाने की उद्दाम इच्छा शक्ति ही तीव्र संवेग है। रामकृष्ण परमहंस की साधना तीव्र संवेग का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनकी छटपटाहट और तड़पन सीमा को तोड़ चुकी थी। काली मन्दिर में मां काली के सामने नाक रगड़ते, रोते-चिल्लाते और पछताते— हा! मां आज का दिन भी बीत गया और तूने दर्शन नहीं दिया। अब देरी सही नहीं

जाती। माँ दर्शन दे, अन्यथा प्राणपखेरू उड़ जायेंगे। सती साध्वी नारी के मन में पति-मरण पर जैसी व्याकुलता होती है वैसी व्याकुलता का नाम तीव्र संवेग है। तीव्र संवेग होने पर टालमटोल या आलस्य को कोई जगह नहीं होती।

योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि—

क्षिप्रं हि मानुषे लोके
सिद्धिर्भवति कर्मजा।

अर्थात् मनुष्य लोक में कर्म-परायणता से शीघ्र सिद्धि मिल जाती है। जो अपनी धुन और लगन के पक्के हैं वे कुछ पा जाते हैं। ऐसे साधकों का निश्चय दृढ़ होता है। स्वामी रामतीर्थ का निश्चय तीव्र संवेगयुक्त निश्चय था। वे प्रायः अपनी मस्ती में कहा करते थे—

आये हैं तेरे दर पै तो कुछ कर गुजरेंगे।
या तो वस्ल ही जायगी या मरकर रहेंगे॥

राजा जनक आदि ने कर्मरत होकर तीव्र संवेग पूर्वक किये गये तप और स्वाध्याय से सिद्धि प्राप्त की थीं।

एक जिज्ञासु ने एक महात्मा से पूछा—ईश्वर कैसे मिलेंगे? 'महात्मा ने कहा समय पाकर बतायेंगे।' कुछ समय बीतने पर एक दिन वह महात्मा जिज्ञासु को नदी में स्नान के लिए ले गये। महात्मा जिज्ञासु शिष्य के साथ स्नान करने लगे। तभी महात्मा ने शिष्य को पानी में जोर से दबा दिया शिष्य बुरी तरह छटपटाने लगा। उसकी छटपटाहट चरम सीमा पर पहुँच गई तब महात्मा ने शिष्य को पानी से ऊपर निकाल लिया। शिष्य को आश्चर्य और क्रोध हो रहा था। मेरी जान लेने के लिए यह महात्मा क्यों उद्यत हो रहे थे वह समझ नहीं पा रहा था। महात्मा ने कहा—वत्स! तुम मेरी आत्मा हो। तुम्हें डुबाना नहीं चाहता था। ईश्वर दर्शन का उपाय तुम्हें समझाया था। डूबने पर तुम्हें कितनी छटपटाहट थी। कितनी विकल वेदना थी। अब प्राण पखेरू उड़े, अब उड़े! एक क्षण के इधर से उधर होने की ही देर थी। हे वत्स! इसी प्रकार की छटपटाहट और व्याकुलता जब जीव को संसार के विषयों से होने लगती है तो ईश्वर के दर्शन होने में देर नहीं लगती। जब तक विषय प्रिय लगते हैं तब तक ईश्वर-साक्षात्कार की बात करना केवल वाणी का विलास है। बिच्छू जब काट लेता है तो फिर एक क्षण भी चैन नहीं पड़ता। उसकी चिकित्सा के लिए सब कुछ छोड़कर उपाय करते हैं वैसे ही संसार रूपी बिच्छू के काटे जाने पर क्लेश के मूल अविद्या अस्मिता, राग द्वेष तथा अभिनिवेश को दूर करने का जो

उपाय नहीं करता वह मूर्ख नहीं तो क्या है।

तीव्र संवेग का परिणाम —

तीव्र संवेग का नाम ही पुरुषार्थ है। वैसे तो प्रारब्ध बड़ा बलवान है किन्तु तीव्र संवेग से किये गये कुछ कर्म ऐसे हैं जिनसे प्रारब्ध भी बदला जा सकता है। व्यासदेव जी महाराज कहते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्म वेदनीयः।

(२/१२)

वे भाष्य में उन कर्मों की चर्चा करते हैं जिनको तीव्रता से किया जाय तो इसी जन्म में और तत्काल उसका परिणाम समक्ष प्रत्यक्ष हो जाता है।

तत्र तीव्र संवेगेन मंत्रतपः समाधिभिः निर्वर्तित ईश्वर देवता महर्षि महानुभावानाम् आराधनाद्वा यः—परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। यथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधित कृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पाप कर्माशयः सद्य एव परिपच्यते।

अर्थात् तीव्र संवेग से किये गये मन्त्र-जप, शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक तप तथा ध्यान समाधि द्वारा अथवा ईश्वर देवता अथवा महर्षियों एवं सिद्धों तथा सन्तों की आराधना से ऐसा तीव्र फलप्रदायी पुण्यकर्माशय तैयार हो जाता है जिसका फल इसी जन्म में मिल जाता है। इस विज्ञान के आधार पर योगी अपने पापपुण्यों से उत्पन्न प्रारब्ध कर्मों के फल को दुःख के स्थान पर सुख में बदल लेते हैं। इसी प्रकार बीमार, व शरणागत तथा विश्वास करने वाले तथा तपस्वी, महात्माओं का अपमान करने एवं कष्ट पहुँचाने से बना हुआ पाप-कर्मों का कर्माशय भी इसी जन्म में दुःख रूप फल दे देता है।

तीव्र संवेग से किये गये अभ्यास को ही योग ही योगदर्शन में 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' सूत्र में परिभाषित किया गया है। योगवाशिष्ठ में अभ्यास की उपलब्धि का निर्देश करते हुए वशिष्ठ जी कहते हैं -

दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति
रिपवो यान्ति मित्रताम्।
विषाण्यमृततां यान्ति,
संतताभ्यास योगतः॥

(२/६७/२२)

दृढ़ाभ्यास भिधानेन
यत्ननाम्नास्वकर्मणा।

निजवेदनजेनैव सिद्धि-
भवति नान्यथा ॥
(२/६७/४४)

अर्थात् दृढ़ अभ्यास के बल से असम्भव भी सम्भव बन जाता है तथा शत्रु मित्र हो जाते हैं और विष अमृत में बदल जाता है। पुरुषार्थरूपी अभ्यास के यत्न से मनुष्य को संसार में सफलता मिलती है। प्रयत्न और पुरुषार्थ के अतिरिक्त सफलता प्राप्त करने का दूसरा उपाय नहीं है।

जिस प्रकार पावन गंगा के तीव्र प्रवाह से बड़ी-बड़ी चट्टानें चूर-चूर हो जाती हैं। जल को मार्ग दे देती हैं, उसी प्रकार जो तीव्र संवेग से यत्न करते रहते हैं उनके मार्ग के सभी अन्तराय हिम्मत हार-कर उन्हें रास्ता दे देते हैं। जो दुःख और कष्टों को सहने से डरते हैं उन्हें साधना के मार्ग में पदार्पण नहीं करना चाहिये। यह मार्ग वीरों का उत्साही और हिम्मत वाले लोगों का मार्ग है। एक सन्त का कथन है—

तलाशे यार में जो तकलीफ उठा नहीं सकता।
मंजिले मकसूद को वह कभी पा नहीं सकता॥

साधना काल का जितना घना कष्ट होता है उतनी ही मात्रामें सिद्धि मिलने पर आनन्द होता है। जो 'रेडीमेड' मुफ्त की कमाई खाने वाले हैं वे 'माले मुफ्त दिले बेरहम' बन जाते हैं। जैसे किसी की लॉटरी निकल आवे तो यदि वह कर्मपरायण नहीं है तो थोड़े दिन में उस सुगमता से उपलब्ध पैसे को शराब और होटलों की रंगरेली जिन्दगी में कष्टकर व्यसनों को सदा के लिए खरीदकर दुःख ले लेता है। यदि वह कर्मपरायण है तो उस पैसे से धनोपार्जन का ठोस साधन तैयार कर सकता है। इसी प्रकार शक्तिपात से प्राप्त शक्ति से व्यसनी और दुराचारी अधिक दुराचार में प्रवृत्त हो जाता है तथा जो कर्म-परायण है वह उस शक्ति का संवर्धन कर अपने जीवन को कृत कृत्य बना लेता है। श्री गुरुदेव के चरणों में ऐसे अनेकों लोग देखे जो शक्ति के पात्र न होने के कारण शक्ति के कणमात्र को पाकर दम्भी, पाखण्डी, अहंकारी और व्यभिचारी हो गये और परिणामस्वरूप मूल धन ही गँवा बैठे। इसके विपरीत जो स्वाध्याय-शील संस्कारी अधिकारी आते हैं वे उस शक्ति को पाकर अपना दर्द बताते चले जाते हैं जिससे दर्द का हद से गुजर जाना खुद दवा हो जाना की स्थिति प्राप्त कर समाधिष्ठ और परम-हंस बन गये हैं।

योग में सफलता के लिए साधक को तूफान बनना पड़ताहै। 'क्रियैव कारणं सिद्धेः' बिना कर्म-रत हुए सिद्धि नहीं मिलती। ईश्वर का अनुग्रह उन्हीं पर होता है जो गंगा प्रवाह की तरह निरन्तर कर्मरत रहते हैं।

जिनके जीवन का हर क्षण तथा हर श्वास कर्मरत हो जाता है सिद्धियां उनका वरण कर लेती हैं। आलसी जीवन धारणोपयोगी साधन ही नहीं जुटा सकता फिर भला अतीन्द्रिय आनन्द के लिए कष्ट उठाने का उसमें पुरुषार्थ कहाँ से हो सकता है। योग सूत्रों के भाष्यकार व्यास देव जी महाराज तीव्र संवेग के द्वारा अनुष्ठित उपाय प्रत्ययों का फल लिखते हैं—

(तीव्र संवेगेन) समाधिलाभः समाधि-फलञ्च भवतीति।

अर्थात् तीव्र संवेग से किये गये जप, तप, आसन, प्राणायाम, अभ्यास तथा वैराग्य आदि के द्वारा ध्यान तथा समाधि शीघ्र होती है यथा समाधिका फल-क्लेशों का क्षीण होना, पुण्याशय की वृद्धि एवं क्लेशकर्म की सर्वथा निवृत्ति, जड़ चेतन ग्रन्थि का मोचन आदि लक्षण तथा दूर-दर्शन, दूर श्रवण आदि सिद्धियां शीघ्र हो जाती हैं।

तीव्र संवेग के भेद—

अभ्यास-परायण होने पर सिद्धि अवश्य मिलती है तथापि यह देखा जाता है कि किसी को एकदम सिद्धि मिल गई, किसी को कुछ देर से और कुछ को सब कुछ करने पर भी कुछ हाथ नहीं लगा अथवा बहुत काल के पश्चात् सिद्धि मिली। इसका कारण साधक की श्रद्धा तथा उसके उत्साह एवं प्रयत्न की न्यूनाधिकता है। तीव्र संवेग भी प्रत्येक साधक में एक जैसा नहीं होता। भूख लगने पर सभी बेचैन हो जाते हैं किन्तु छोटा बच्चा इतना बेचैन होता है कि तत्क्षण उसे भोजन देना आवश्यक होता है अन्यथा वह रो-रोकर आसमान सिर पर उठा लेगा। बच्चे का भूख की निवृत्ति का संवेग तीव्रतम् है। योगदर्शन में तीव्र संवेग के नौ भेद किये गये हैं—१. मृदु तीव्र, २. मध्य तीव्र ३. अधिमात्र तीव्रतर ४. मृदुतीव्रतर ५. मध्यतीव्रतर ६. अधिमात्रतीव्रतर ७. मृदुतीव्रतम् ८. मध्यतीव्रतम् ९. अधिमात्र तीव्रतम्।

पेसिंजर ट्रेन, एक्सप्रैस ट्रेन तथा सुपर-फास्ट ट्रेन से यात्रा करने पर अपेक्षाकृत उत्तरोत्तर कम समय में गन्तव्य स्थान पर पहुँचते हैं। वायुयान से सबसे कम समय में पहुँचा जा सकता है। साधना भी जब तक सुपर फास्ट या वायुयान की रफ्तार से नहीं चलती तब तक समाधि लाभ शीघ्र नहीं मिल पाता है। योग सूत्रों के व्याख्याकार आचार्य वाचस्पति ने अपनी टीका में संवेग शब्द का अर्थ वैराग्य किया है—

संवेगो वैराग्यं तस्यापि मृदु मध्य-तीव्रता प्राग्भवीय वासना दृष्टवशात् एवेति·········।

पूर्वजन्मकृत संस्कारों के परिणाम स्वरूप

तथा ईश्वर एवं गुरुदेव की कृपा के फलस्वरूप वैराग्य में जितनी अधिक तीव्रता होती है उतनी ही जल्दी समाधि सिद्धि होती है। वैराग्य का अर्थ कपड़े रंगना, माला चन्दन धारण करना या जटायें बढ़ाना अथवा जबरदस्ती घरबार छोड़कर जंगल में जाना नहीं है। जब फल पकने लगता है तो स्वतः उसमें मधुरता, पीलापन तथा अपने वृन्त से सम्बन्ध विच्छेद तथा अपनी गुठली एवं रस का पृथकत्व आदि लक्षण हो जाते हैं। यदि पकने के पूर्व फल को डाली से अलग कर कृत्रिम उपायों से पकाया जाता है तो वह फल जल्दी सड़ जाता है तथा स्वादहीन हो जाता है। 'सहज पकं सो मीठा होय' जिसमें ईश्वरार्पण बुद्धि तथा सांसारिक वासनाओं से अनासक्ति हो जाती है। स्वर्ग के सुख भी जिसे अपने ध्येय से विचलित नहीं करते। गुणाधिकार के रहस्य का जिसमें—विवेक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे ग्रहणीय वस्तु का ही वह ग्रहण करता है, कूड़ा-कर्कट छोड़ देता है— उसी का नाम वास्तविक वैराग्य है। जैसे किसी को पुत्र-शोक होने पर उसे विषय बिल्कुल नहीं सुहाते उसी प्रकार वैराग्य होने पर आत्मा को सतरजतम गुणोंकी कैदमें रहना अच्छा नहीं लगता। सन्त शिरोमणि तुलसी दास ने वैराग्य का सारगर्भित लक्षण किया है–

कहिय तात सो परम विरागी।
तृण समसिद्धि तीन गुण त्यागी॥

जब तक चित्त गुणाधिकार में रहता है तब तक सुख दुःख पाप पुण्य के संस्कार बनते रहते हैं तथा उनके परिणाम स्वरूप जन्म, जाति, आयु और भोगों का सिलसिला चलता रहता है।

तीव्र संवेग के जनक—

भगवान पतञ्जलि ने योग सूत्रों में तीव्र संवेगों की न्यूनाधिकता में प्रारब्ध के कर्म (पूर्वजन्म का पुण्य) तथा इष्टदेव की कृपा के अतिरिक्त निम्नलिखित कारण भी उपस्थित किये हैं—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

साधना में तीव्र संवेग उपायों की न्यूनाधिकता के कारण होता है। उन उपायों में 'श्रद्धा' का सर्वोपरि स्थान है।

श्रद्धा—अन्ध भक्ति का नाम श्रद्धा नहीं है। सतोगुण की अभिवृद्धि के फलस्वरूप अनासक्त, परोपकार परायण जीवन से आत्म सुखाय जो दान, यज्ञ तथा तप आदि कर्म किये जाते हैं उससे सत्य का संस्पर्श होकर चित्त में प्रसन्नता का संचार रहता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में इसे स्पष्ट किया है--

प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिर्पर्यवतिष्ठते।

जब सत्कर्मों को व्यक्ति अनुष्ठान करता है तो उसके अन्दर सतोगुणका विकास होता

है जिससे चित्त में प्रकाश तथा ज्ञान बढ़ता है क्योंकि सतोगुण का धर्म है-'सत्व सुखे संजयति' सतोगुण सुख की वृद्धि करता है। प्रसन्न चित्त वाले की बुद्धि शीघ्र सद्वस्तु को ग्रहण कर लेती है तथा असद्-वस्तु से अपना मोह छोड़ देती है। प्रसन्नता से सभी दुःखों का अन्त हो जाता है-'प्रसादे सर्व दुःखानाम् हानि रस्योपजायते-गीता' चित्त की प्रसन्नता का नाम ही श्रद्धा है। जिस प्रकार गंगा के समीप पहुँचते ही उसकी शीतलता की अनुभूति हो जाती है इसी प्रकार किसी को देखकर हृदय गवाही दे देता है कि पुण्यात्मा है या पापात्मा है। जिसके दर्शन मात्र से शान्ति मिले उससे चित्त प्रसन्न हो जाता है और वह श्रद्धास्पद हो जाता है। श्री गुरुदेव के प्रदत्त मन्त्र तथा साधना पद्धति में सौ फीसदी दृढ़ विश्वास लेकर जो साधना में तत्पर होते हैं उनकी मदद उनकी गुरुनिष्ठ श्रद्धा ही किया करती है। भगवान व्यासदेव जी कहते—

श्रद्धा चेतसः संप्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति।

श्रद्धा माता की तरह योगी की साधना में हर क्षण मदद किया करती है। श्रद्धा के बल से योगी बड़े-बड़े संकट तथा अन्तराय सरलता से पार कर लेता है। श्रद्धा से जिनका हृदय भरा रहता है उन पर गुरुदेव की कृपा की वृष्टि हर क्षण हुआ करती है।

वीर्य—श्रद्धा के द्वारा साधक में वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्य का अर्थ उत्साह तथा धैर्य तथा दृढ़ धारणा करने की क्षमता से है। भगवान व्यासदेव जी भाष्य में लिखते हैं—

तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो-वीर्यमुपजायते।

विवेक चाहने वाले श्रद्धापरायण योगी में साधना के प्रति 'दिन दूना रात चौगुना' उत्साह पैदा हो जाता है। जिसके परिणाम-स्वरूप उठते-बैठते, सोते-जागते हर क्षण साधक गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट साधना में तल्लीन रहता है। उसे भूख-प्यास, मान-अपमान, दिन और रात की कोई सुध-बुध नहीं रहती।

चलत चितवत उठत-बैठत दिवस-रात।
वह श्यामसुरत क्षणिक न मनसे बिसरात॥

स्मृति—अत्यधिक दृढ़ता तथा उत्साह के परिणाम स्वरूप स्मृति उपस्थित हो जाती है। जो कुछ करणीय है तथा अकरणीय है—कर्म, अकर्म, विकर्म तथा अनुष्ठेय पदार्थ का हर समय ध्यान रहने से साधक से गलत कार्य नहीं होते तथा फलस्वरूप वह पश्चात्ताप, शोक, मोह आदि की अग्नि में नहीं जलता तथा उसका चित्त काम, क्रोध, मोहादि के आवेगों से क्षुब्ध नहीं होता। 'स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। जब चित्त शांत हो जाता है तो समाधि हो जाती है। स्मृति

का लक्षण भगवान पतंजलि ने इस प्रकार किया है—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः । १/११

अर्थात् वस्तु के अनुभव के यथार्थ ज्ञान को जैसा है वैसा ही बिना नमक मिर्च लगाये उपस्थित कर बुद्धि को सम्यक् बोध कराना स्मृति का लक्षण है। यथार्थ ज्ञान से प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान प्रमाणादि के द्वारा स्मृति द्वारा बुद्धि में उपस्थित होता रहता है जिससे ग्रहण और त्याग की प्रवृत्तिमें समत्व-भाव आजाता है। स्मृति का लक्षण वाचस्पति मिश्र ने—'प्राप्ति पूर्वावृत्तिः स्मृतिः' ऐसा किया है। अनुभव जन्य ज्ञान को ही स्मृति कहा जाता है। वह ज्ञान बुद्धिधर्म से भिन्न तथ्य प्रधान होता है। बुद्धिधर्म से उत्पन्न ज्ञान गुणधर्मिता के कारण अपने अनुभवों से रंगा हुआ होता है। स्मृति ठीक टेपरिकोडिंग है। जिसके आधार पर बुद्धि निर्णय करती है।

समाधिप्रज्ञा—स्मृति उपस्थान होने पर 'समाहित चित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्तते। येन यथार्थं वस्तु जानाति। तदभ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्याद संप्रज्ञातः समाधिर्भवति ।

अर्थात् चित्त समाहित होने पर प्रज्ञा विवेक उत्पन्न होता है। प्रज्ञा विवेक बुद्धि में पूर्ण सत्य के भासित होने पर होता है। उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा गया है। प्रज्ञा के प्रासाद पर चढ़कर योगी उसी प्रकार वस्तु के सत्य रूप को देखने लगता है जैसे कि पहाड़ पर चढ़ा हुआ व्यक्ति भूमि पर खड़े हुए लोगों को देखता है। इस स्थिति में पहुँचकर योगी शोक तथा मोह से परे हो जाता है। योगी समाधिजन्य अनुभव-अहं ब्रह्मास्मि, शिवोऽहं, विष्णुरहं आदि की भावना करते-करते चित्त का गुणाधिकार समाप्त होने पर असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँच जाता है। जहाँ पर पहुँचकर कैवल्य की नित्य स्थिति में स्थित होकर योगी ईश्वर के समान मुक्त हो जाता है।

तीव्रतम संवेग के उपायों में ईश्वर प्रणिधान को प्रमुख माना गया है। जिस साधक के अन्दर देव में जैसी भक्ति होती है वैसी ही गुरुदेव में उदित हो जाती है। अपने गुरुदेव में देवबुद्धि के उदित होने पर ईश्वर प्रणिधान आसानी से हो जाता है। उपनिषदों में कहा गया है—

यस्य देवे पराभक्तिः
यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताः
ह्यर्थाः ....॥

जो साधक दीर्घ काल तक कम से कम प्रतिदिन तीन घंटे ध्यान तथा जप करते है तथा निरन्तर बिना नागा किये करते हैं। पूर्ण श्रद्धा के साथ करते हैं उनका अभ्यास दृढ़ हो जाता है और उनके अन्दर वैराग्य उतरने लगता है। ज्यों ज्यों वैराग्य प्रबल होता जाता है—राम प्यारे लगने लगते हैं और विषय-

श्री सिद्ध गुफा की रज

श्री रामसजीवनसिंह

पावनतम कहलाता है, सिद्धेश्वर का धाम।
ग्राम सवाई में बनी, सिद्ध गुफा अभिराम॥
सिद्ध गुफा अभिराम महाप्रभु रामलाल की।
जहां शक्ति भी क्षीण हो गई महा काल की॥
स्रोत शक्ति का यहाँ बहा करता है हरदम।
कण कण इसका सिद्ध होगया अति पावनतम॥

यह तो निर्विवाद सत्य है कि गुफा की पावन रज रोगों की अचूक औषधि है। अनेक रोगियों ने इस रज से स्वास्थ्य-लाभ किया और करते ही रहते हैं। कभी कभी मेरे प्रभुजी स्वेच्छा से यह रज दे देते हैं। इसका कुछ विशेष अभिप्राय होता है जैसा कि मेरे साथ घटी एक निम्न घटना से स्पष्ट है: -

सन् १९६८ में मार्च के महीने में मेरे सद्-गुरुदेव ने मुझे रामनवमी के अवसर पर श्री सिद्ध गुफा सवाई आश्रम आने का आदेश दिया। रामनवमी आने पर मेरे अन्दर आश्रम जाने की तीव्र अभिलाषा जागृत हुई। यह आश्रम की मेरी पहली यात्रा थी।

रात्रि ११ बजे अपर इण्डिया एक्सप्रेस से मैंने आश्रम के लिए प्रस्थान किया। दूसरे दिन सवेरे आश्रम पहुँचा। त्रिदिवसीय उत्सव का आनन्द लेने के पश्चात् प्रातः प्रभु जी की आज्ञा लेकर तथा उनके करकमलों द्वारा बिना याचना किये ही गुफा की रज प्राप्त कर इलाहाबाद आने के लिए गाड़ी पकड़ी। रास्ते भर सोचता रहा प्रभुजी ने मुझे बड़े प्यार से गुफा की रज दी है। नया शिष्य होने के नाते गुफा की रज के विषय में अनभिज्ञ था। अपने गुरु-भाइयों द्वारा सुना था, इसमें रोग-निवारण की अपूर्व शक्ति है।

गाड़ी में बहुत भीड़ थी। किसी तरह मैंने गाड़ी के डिब्बे में प्रवेश किया। बैठने की जगह तो थी नहीं। खड़े रहने वालों की भी संख्या कम न थी। सामने की बर्थ पर एक सेना का नौजवान लेटा हुआ था। उसके सामने का बर्थ पर उसकी पत्नी तथा बच्चे बैठे थे। कुछ लोग आपस में कह रहे थे कि अगर यह उठ कर बैठ जाय तो तीन चार आदमियों के बैठने की जगह निकल सकती है। बात तो ठीक थी। समस्या यह थी कि उससे भला कहे कौन? मैं मन ही मन सोचने लगा आश्रम आने में तो प्रभुजी की कृपा से कोई तकलीफ नहीं हुई। क्या खड़े-खड़े ही इलाहाबाद जाना पड़ेगा। यह सोच ही रहा था कि सेना के नव-

जवान का एक दो वर्षीय बच्चा, जिसकी तबियत पहले से ही खराब थी अचानक वमन करने लगा। उसे बुखार भी था। छोटा बालक अपने कष्ट को कैसे कह सकता था ? देखने से पता लगता था कि उसकी हालत बिगड़ती जा रही थी। बच्चा कय करते-करते सुस्त हो गया। मिलटरी का नवजवान अपने बच्चे की हालत देखकर चिन्तित तो था किन्तु फिर भी पूरी सीट पर कब्जा किए हुए था। उसकी पत्नी रोने लगी। मुझसे न रहा गया। ऐसा लगा मानो प्रभुजी अन्तःकरण में बैठे आदेश दे रहे हैं, कि "रज का सद् उपयोग कर ले।"

मैंने रज निकाली और बच्चे के माता-पिता की अनुमति से बच्चे के मस्तक पर लगा दी तथा चावल भर उसके मुँह में भी डाल दी। चन्द मिनटों में बच्चा चंगा हो गया कय, सुस्ती, बुखार उसका सब कुछ जाता रहा। सेना का नवजवान बहुत प्रभावित हुआ। अपने बिस्तर को समेटते हुए कहने लगा, "आप खड़े क्यों हैं ? बैठ जाइए" मैं तो बैठ गया साथ ही चार व्यक्तियों को और जगह मिल गई। बड़े आराम से उससे बात करता हुआ मैं इलाहाबाद आया। जब तक वह रज मेरे पास रही मुझे बीमारी में राम-बाण का काम करती रही।

उक्त घटना से मुझे भान हुआ कि उस अबोध बालक पर प्रभुजी ने कृपा कर मुझे रज की महिमा का ज्ञान कराया। तभी तो:---

रज रोगी श्रद्धा सहित, खा कर होते स्वस्थ।
फिर जिसपर होवे कहीं, करुणानिधिका हाथ ॥
करुणानिधिका हस्त आधि व व्याधि नसावन।
दे देते निज कर से जिसको रज वे पावन ॥
हो जाता कल्याण नहीं है इसमें अचरज।
सिद्धेश्वर का यह प्रसाद है पावनतम् रज ॥

(पृष्ठ २६ का शेष)

भोग नीरस लगने लगते हैं त्यों-त्यों समाधि-भावना दृढ़ होती जाती है। सन्त शिरोमणि तुलसी ने नीरोग चित्त का लक्षण करते हुए इसी सिद्धान्त की ओर निर्देश किया है---

जानिय तब मन विरुज गोसाँई।
जब सब विषय अभिलाष विलाई

भगवान पतंजलि देव ने तीव्र-तास संवेगों में स्मृति को अधिक महत्वपूर्ण साधन माना है। स्मृति का पूर्णरूपेण परिशोधन होने पर निर्वितर्क समाधि हो जाती है।

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थ-मात्र निर्भासानिर्वितर्का।

卐

आध्यात्मिकता में श्रद्धा का महत्व

❀ श्री रमेशचन्द्र ओहरी

एक यजुर्वेद का मन्त्र है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति
दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति
श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

अर्थात् व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा उत्पन्न होती है। और श्रद्धा से उस परमपिता परमात्मा के दर्शन होते हैं। जो परम सत्य है, सबसे बड़ी सच्चाई है।

इसीलिए यदि श्रद्धा व्यर्थ की वस्तु होती तो वेद भगवान इस पर जोर क्यों देते? नहीं, यह व्यर्थ वस्तु नहीं है। कुछ प्राप्त करना है तो श्रद्धावान बनना चाहिए, श्रद्धा से काम लेना चाहिए।

आगे एक स्थान पर वेद ने कहा है:—

श्रद्धा देवा यजमाना
वायुगोपा उपासते।

'श्रद्धा' मूर्ख और अनपढ़ लोगों की चीज नहीं है। देव लोगों की, ज्ञानियों की, यज्ञकर्त्ताओं की, आकाश समाधि लगाकर वायुमण्डल में घूमने वाले योगियों की वस्तु है। वे इसकी उपासना करते हैं। वे इसका सहारा लेते हैं।

अब बताइऐ यह श्रद्धा मूर्खों की वस्तु है या विद्वानों की।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।

सच्चा ज्ञान भी श्रद्धावाले को ही मिलता है। जो प्रतिक्षण तर्क कुतर्क ही करता है उसके लिए महाभारत कहता है।

अश्रद्धा परमं पापम्।

अश्रद्धा से बढ़कर कोई पाप नहीं, क्योंकि यह अश्रद्धा मनुष्य को शंकाओं और संदेहों के उस जंगल में ले जाती है, जिससे बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं। इसीलिए योग मार्ग में जो बात समझ ली, उसका ज्ञान प्राप्त कर लिया तो उस पर चट्टान की तरह दृढ़ता से खड़े हो जाओ। डगमगाओ नहीं। इधर-उधर मत देखो। ईश्वर का मार्ग तर्क का मार्ग नहीं है, श्रद्धा का मार्ग है। एक जगह वेद कहता है कि—

श्रद्धा आपः

श्रद्धा पानी है। जो आध्यात्मिकता के

उद्यान को हरा भरा रखना चाहते है, उन्हें श्रद्धा के जल से उसे सींचना चाहिए। श्रद्धा के बिना आध्यात्मिकता का उद्यान सूख जायेगा। इसके बिना ज्ञान भी सहायता नहीं करेगा, उसमें मरुभूमि की तरह व्यर्थ के कंटीले झाड़-झंखाड़ उग आयेंगे—शंका और संदेह की कांटेदार झाड़ियां—योगमार्ग रहेगा ही नहीं।

आजकल किसी से श्रद्धा की बात कहो तो वह कहता है, "श्रद्धा तो अनपढ़ और मूर्ख लोगों की वस्तु है। हम पढ़े लिखे हैं, सोचने-बिचारने की शक्ति रखते हैं। हमारे पास बुद्धि है। हमारे साथ तर्क के साथ बात करो।"

वस्तुतः, ऐसे लोग इस बात से अनभिज्ञ रहते हैं कि क्या श्रद्धा के बिना दुनियादारी की बातें भी चल सकती हैं ? अगर पति-पत्नी में, पिता-पुत्र में, मित्र-मित्र में श्रद्धा और प्रेम का अभाव रहता है तो इनके सम्बन्ध क्षण भर भी नहीं रह सकते हैं, जो कि अस्थिर सम्बन्ध होते हैं। परन्तु आत्मा का परमात्मा से तो स्थाई सम्बन्ध होता है और इस संबंध को दृढ़ करने के लिए हमें श्रद्धा को ही दृढ़ करना होता है।

उदाहरणतः, मैंने किसी से बद्रीनारायणजी को जाने का मार्ग पूछ तो लिया जो स्वयं वहां जा आया हो परन्तु मैं उस मार्ग पर चलने की अपेक्षा मन में ही सोचता रहूं कि अमुक ने मार्ग जो बताया है क्या पता इस मार्ग पर चलने से बद्रीनारायण पहुँचूंगा भी या नहीं ? संदेह ही किए जाता हूँ चलता नहीं, तो इसी प्रकार मैं कभी भी बद्रीनारायण नहीं पहुँचूंगा।

सच्चाई यह है कि हम वास्तव में स्वयं तो कुछ करना नहीं चाहते, दोष मन के या भगवान की इच्छा कह कर मान लेते हैं। इस तरह काम नहीं बनता। श्रद्धा होनी चाहिए, विश्वास होना चाहिए, तो फिर सब कुछ होता है। अन्यथा संशयात्मा विनश्यति संशयी पुरुष का नाश हो जाया करता है।

हमारे परम सद्गुरु जगदाधार योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज भी प्रायः अपने प्रवचनों में अपने बच्चों को श्रद्धा पूर्वक योग मार्ग में डटे रहने के लिए प्रेरणा दिया करते हैं। और श्रद्धायुक्त भाई बहिनों को आध्यात्मिक क्षेत्र में कई चमत्तकारों की शृंखलाएँ मिलती रहती हैं और वे अपने आपको धन्य समझा करते हैं।

आइए हम सब मिलकर उन करुणामय आनंदकंद सद्गुरुदेवजी के चरण कमलों में अनन्य भाव से श्रद्धा रखते हुए अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को इसी जन्म में प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प लें।

थियोसोफी में-

❋ सिद्धयोग की भूमिका ❋

* श्री डा० विजयसिंह, प्रवक्ता गणित, सेण्टऐण्ड्यूज कालेज गोरखपुर

थियोसोफी अथवा ब्रह्मविद्या नामक संस्था की संस्थापिका एक विदेशी महिला मादाम् बोलोत्सकी थीं। जिनमें बचपन से ही अतीन्द्रीयत्व बोध था। आगे चलकर उन्हें अपने परादृष्टि में एक भारतीय महान योगी से साक्षात्कार होता है। उन्हीं परम कारुणिक ऋषिश्वर ने बीसवीं सदी तथा आगे के कालों में भौतिकवादिता से त्रस्त जीवों को आध्यात्मिक बोध देने के लिये मादम् बोलोत्सकी को सद्-प्रेरणा से प्रेरित किया। आगे चलकर यह संस्था विश्व-व्यापी मानव-कल्याण की योजनाओं में आबद्ध हुई। कई अंग्रेज, अमेरिकन, आस्ट्रेलियन, जर्मन, ईसाई धर्मावलम्बी विद्वान इस अनभूति युक्त साधना सम्पन्न संस्था से सम्बन्धित हुये तथा बड़ा ही प्रभावकारी ब्रह्म-ऐक्य भावना का प्रचार किया।

इस संस्था ने नाना धर्मों में व्याप्त रूढ़िवादिता का जहां खण्डन किया वहीं यथार्थ जीवनमें प्रवेश हेतु योग-ध्यान की अनिवार्यता को जनमानस में बिठलाया। अनेक अध्यात्म अनुभूति से सम्पन्न शिक्षित साधकों को तैयार किया जिन्होंने भारतीय योग-दर्शन को विश्व मञ्च पर सिद्धान्त तथा व्यवहार के रूप में प्रस्तुत किया। अध्यात्म सम्बन्धी नाना अनुभूतियुक्त सरल ग्रन्थों का प्रतिपादन-लेखन कार्य भी किया। सबसे महत्व की बात तो यह है कि विश्व को इस संस्था ने स्पष्टतया बतला दिया कि युग प्रवर्तन हम साधारण मनुष्यों से संचालित नहीं होता, अपितु श्रेष्ठ सिद्धों का संघ हमारे मानवीय जीवन को निरन्तर विकास की ओर ले जा रहा है। अतः हमें जीवन में उपलब्ध भौतिक सुख-सुविधाओं के आधिक्य से भ्रमित नहीं होना चाहिए। अध्यात्म जगत में प्रवेश उन्हीं व्यक्तियों को मिलता है जिन्होंने अपने जीवन में कम से कम न्यूनतम मानवीय सद्गुणों को स्थापित करने की चेष्टा की है। सद्गुरु सत्ता की महत्ता को बड़े ही प्रभावी ढंग से स्वीकारा है। जीव का उत्थान मात्र गुरु कृपा पर आधारित है। शिष्य को कैसा होना चाहिए? आधुनिक युग के चिंतन धारा वाला व्यक्ति कैसे शिष्य बन

सकता है, इन मूल प्रश्नों पर अत्यन्त ही सुग्राह्य तर्कों को प्रस्तुत कर, आज के मनुष्य को स्पष्ट अध्यात्म पथ का बोध कराता है।

डा० कृष्णमूर्ति। एनीबिसेण्ट, लीडा, सिनेट आदि कई ब्रह्म-अनुभव सम्पन्न लोगों ने सिद्धयोग की महत्ता पर व्यापक प्रकाश डाला है। साधकों के लिए सिद्धानुशासन अथवा साधक की आचार संहिता भी बहुत ही प्रभावी शब्दों उल्लिखित है। साधक को कैसा होना चाहिए ? उसकी दैनन्दनी किस तरह की हो साथही साधारण लोगों के लिए अदृष्य रहकर भी लोक कल्याण करने वाले जीवन-मुक्त सिद्धों के कार्यप्रणाली पर भी सजीव प्रकाश डाला है।

कुछ नई सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति सहज ही मन को आकर्षित कर लेती है। जैसे भविष्य के शताब्दियों में सर्व धर्म समन्वय के साथ ही पूरे विश्व का भ्रातृत्व भाव से भरपूर होना, सारे धर्मों की अच्छी परम्पराओं को पात्रता अनुसार व्यक्तियों द्वारा पालन करना। मानव का सर्वांगीण विकास।

सबसे अद्भुत बात यह है कि इस संस्था के प्रभावी कार्य-कर्ताओं ने (बावजूद कि वे ऐसे धर्म से सम्बन्धित पहले रह चुके थे जो पूर्वजन्म मूर्ति-उपासना में बिलकुल विश्वास नहीं रखता) अपने आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर पूर्वजन्म को स्वीकार किया है तथा संसार को बतलाया कि जिन कट्टर धर्मावलम्बियों ने पुनर्जन्म को नहीं स्वीकार किया वे व्यवहार सिद्ध वस्तुओं के त्याग के समान भूल किये हैं।

योग सिद्धान्तों तथा भगवद् गीता के साथ ही हिन्दू पौराणिक व्याख्यानों के आधार को लेते हुए ही 'ब्रह्म-विद्या' के सिद्धान्त को पुष्ट किया है। महात्मा कुथुमि, महात्मा मौर्य तथा भगवान मैत्रेय जो कि भगवान बुद्ध के ही आध्यात्मिक स्वरूप हैं (एक भगवान मैत्रेय, श्रीमद्भागवत् पुराण में आते हैं— जिन्होंने विदुर जी को अध्यात्म ज्ञान का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण के संकेत से किया था क्या वही है यह प्रश्न विवेचनीय है ?) तथा अन्य सिद्ध, जीवन मुक्त महापुरुष लोक सेवा के उद्देश्य से आज भी ब्रह्मवि-जिज्ञासु जनों को आध्यात्मिक सहायता प्रदान करते हैं। डा० एनी० बेसेण्ट ने एक पुस्तक में लिखा है कि महात्मा क्राइस्ट (ईशामसीह) बुद्धावतार थे।

इस संस्था की कुछ पठनीय पुस्तकें जिनमें सिद्ध-योग के विषय का प्रतिपादन किया गया है निम्न है—

1. The voice of the Silence.
(सार शब्द)
2. Light on the path.
(मार्ग प्रकाशिनी)

卐 गुरु-महिमा 卐

⚛ श्री एं० रामवृक्ष त्रिपाठी, प्रवक्ता राजकीय जुबिली कालेज, गोरखपुर

सब धरती कागज करूँ लेखनि सब बनराय।
सात समुन्दर मसिकरूँ गुरुगुन लिखा न जाय॥
— कबीरदास

सारी धरती यदि कागज बना दी जाय तो भी गुरु का यश लिखने के लिए छोटी पड़ेगी।

सहजोबाई तो बड़े ही स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—

गुरु न तजौं हरि तजि डारौं।

ज्ञानी भक्त कबीरदास जी भी कहते हैं—
कबिरा हरि के रूठते गुरु के शरने जाय।
कहु कबीर गुरु रूठते हरिनहिं होत सहाय॥

ईश्वर अगर नाराज हो जाये तो गुरु के शरणागत हो जाइये आपकी सुरक्षा हो जायेगी, पर गुरु के नाराज होने पर ईश्वर कोई मदद नहीं करता।

इस संसार-सागर को पार करने के लिए गुरु एक मात्र जहाज है, और दूसरा कोई भी साधन नहीं, चाहें आप कितने ही बलशाली और शक्तिशाली क्यों न हो।

गुरु बिनु भव निधि तरै न कोई।
जो बिरंचि संकर सम होई॥
—तुलसीदास

अब जरा इन सन्त पुरुषों के कथनों को और गहराई से देखा जाये तो पता चलता है कि परम ब्रह्म ही अकारण करुणावश जीव के कल्याण हेतु शरीर धारण कर लेता, और वही गुरु होता है।

[पिछले पृष्ठ का शेष]

3. In risible helpers.
(अदृश्य-सहायक)

4. Talks on "at the feet of the Master". (श्री गुरुदेव चरणेषु)

'श्री गुरु चरणेषु' एक दिव्य पुस्तक है। जिसमें शक्तिपात दीक्षा का महत्व, साधक की पात्रता, सद्गुरु की सहायता कर्मविपाक, विवेक, सत्य, अन्य महत्वपूर्ण बातों का जिनसे मनुष्य का आध्यात्मिक उत्थान होता है वर्णन इस में किया गया है। सिद्धियों के स्वरूप पर भी वैज्ञानिक तर्क-संगत दृष्टि-कोण प्रस्तुत किया गया है। इन सब बातों के अतिरिक्त पुस्तक रचना की अलौकिकता स्वयं में अभूतपूर्व है।

गुरु गोविंद तो एक है दूजा यह आकार।
आपा मेटि जीवत मरै सो पावे करतार ॥

गुरु और भगवान में केवल शरीर का अन्तर है। यही बात सन्त तुलसीदास जी लिखते हैं—

बन्दौं गुरुपद कंज कृपा सिंधु नर रूप हरि।

वह करुणा और दया का सागर नर रूप में हरि ही है। जिस ब्रह्म को वेद नेति-नेति कहते हैं, उसे कैसे जाना जाय। सन्त तुलसीदास जी लिखते हैं—

तुम्हरी कृपा तुम्हरी रघुनन्दन,
जानहि भगत भगत उर चन्दन।
सोई जानत जेहि देहु जनाई,
जानत तुमहि तुमहि होई जाई।

वह ईश्वर स्वयं ही अपने को आप के सामने अनावृत कर देता है, और जिस समय ईश्वर अपने को अनावृत्त करता है, उस समय वह गुरु हो जाता है।

गुरु करुणा का अथाह सागर होता है, तभी तो हनुमान जी की वन्दना करते हुए तुलसी दास जी कहते है।

जै जै जै हनुमान गोसाईं
कृपा करहु गुरुदेव की नाईं

गुरु कृपा अकारण होती है। राम चरित मानस में एक प्रसंग है। भगवान शिव का एक भक्त मंदिर में जाप कर रहा है। उसी समय उसके गुरु आ जाते है। शिव भक्त गुरु की उपेक्षा करता है। कोई ध्यान नही देता है। गुरु सहज है, उन्हें कोई परेशानी नही होती है परन्तु गुरु का यह अपमान भगवान शिव बर्दाश्त नहीं करते।

सो दयाल नहि कहेउ कुछ उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुरु अवमानता सहि न सके महेस ॥

मन्दिर में आकाशवाणी होती है—

बैठ रहेसि अजगर इव पापी।
सर्प होहि खल मल अति व्यापी ॥
महा विटप कोटर महु जाई।
रहु अधमाधम अध गति पाई ॥

अरे दुष्ट—तू गुरु के आने पर भी अजगर की तरह बैठा रहा, जा सर्प की अधम योनि में तुम्हारा जन्म हो।

हाहाकार कीन्ह गुरु, सुन दारुन शिव श्राप।
कम्पित मोहि बिलोकि, उर उपजा परिताप ॥
करि दण्डवत सप्रेमद्विज सिवसन्मुख करजोरी।
विनय करत गदगद स्वर समुझि घोरगति मोर॥

शिष्य की अधोगति से गुरु दुखित होते है वे भगवान शिव को प्रसन्न करते है। भगवान शिव उन्हें वरदान मांगने को कहते है। गुरु भगवान शिव से दो वर मांगते हैं—

जो प्रसन्न प्रभु मो पर नाथ दीन पर नेहु।
निजपद भगति देइ प्रभु पुनि दूसर वर देहु ॥
संकर दीनदयाल अब यहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होहि जेहि नाथ थोरही काल ॥

यहि कर होहि परम कल्याना।
सोई करहु अब कृपा निधाना ॥

यह है गुरु का पावन चरित्र। शिष्य का परम कल्याण ही हर दशा में उनका अभीष्ट होता है तभी तो संत कबीरदासजी कहते हैं—

शीस दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।

मणि-मुक्ता

(संकलित)

शान्ति बाहर की किसी चीज से नहीं मिलती। यह अपने अन्दर की ही चीज है।

× × × ×

सुख के पीछे दुःख रहा है, दुःख के पीछे सुख। धूप है तो छाया भी है, प्रकाश है तो अन्धकार भी है, जन्म है तो मृत्यु भी। इस द्वन्द्व से हटना अनासक्ति है।

× × × ×

जो भीतर से स्वच्छ है वह बाहर से अस्वच्छ हो ही नहीं सकता।

× × × ×

जो काम शुद्ध भाव से किया जाता है उसका परिणाम अशुभ नहीं हो सकता।

× × × ×

भूल यहाँ तक कि भारी भूल भी करना मानवीय है लेकिन मानवीय वह तभी है जबकि उस भूल को सुधारने और फिर से न करने का निश्चय हो।

× × × ×

एक समय में बहुत सा खा लेना जैसे शरीर के लिए हानिकारक है वैसे ही एक ही समय पर बहुत सा काम करना भी आत्मा को दुखी बनाता है।

× × + ×

पुरुष और स्त्री मूल रूप से एक हैं। दोनों आत्मा एक सी हैं। ये एक दूसरे के पूरक हैं।

× + × +

गुनाह छिपा नहीं रहता, वह मनुष्य के मुख पर लिखा रहता है।

× + + ×

पाशविक इच्छाओं को बढ़ाने व उनकी तृप्ति की खोज में पृथ्वी के छोर तक जाने की पागलपन भरी चाह को मैं हृदय से घृणा करता हूँ।

× + × +

मौन सर्वोत्तम भाषण है, अगर बोलना ही हो तो कम से कम बोलो। एक शब्द से काम चले तो दो का प्रयोग नहीं करना चाहिए। —महात्मा गाँधी

साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर
(श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा)

प्रश्न—परम पूज्य श्री गुरुदेव ! कृपा करके यह बतलाइये कि-विदेह किसे कहते हैं और उसकी क्या सामर्थ्य होती है ?

उत्तर—प्रिय सौम्य ! जिन योगियों को आनन्दानुगत समाधि की प्राप्ति हो जाती है और विशुद्ध सत्व के भावों को अनुभव करते हुए जो योगी उसमें अपने आपको लय कर डालते हैं, वे विदेह कहलाते हैं। विदेहों के अन्दर देह-धर्म नहीं हुआ करते। उन्हें इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं रहती। उनके सभी काम संकल्प मात्र से हो जाया करते हैं। उन्हीं के सम्बन्ध में शास्त्रों का यह कथन है-

श्रृण्वन् कर्णः भवति, पश्यन् नेत्रम् भवति, स्पृशन् त्वग् भवति, जिघ्रन् नासिका भवति।

अर्थात् वे संकल्पमात्र से ही हजारों मील दूर की बातें सुन सकते हैं, हजारों मील दूर के दृश्य देख सकते हैं, हजारों मील दूर का स्पर्श कर सकते हैं और हजारों मील दूर की गन्ध ग्रहण कर सकते हैं।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! क्या इस अवस्था को प्राप्त कर लेना ही कैवल्य मोक्ष कहा गया है और क्या विदेहों को पुनः संसार में जन्म लेना नहीं पड़ता ? क्या विदेहावस्था प्राप्त योगियों को ही जीवन्मुक्त कहा गया है या कि उनकी कोई और श्रेणी है ?

उत्तर—हे पुत्र सुनो ! विदेह योगियों का चित्त साधिकार रहता है। अतः उन्हें भी जन्म लेना ही पड़ता है। किन्तु वे अपने आपको मुक्त समझते हैं और कैवल्य का सा आनन्द अनुभव करते हैं। गुणाधिकार से आगे निकल कर ही योगी निर्गुण चैतन्य को प्राप्त होता है और तभी उसके चित्त का अधिकार समाप्त होता है। जब गुणों का गुणों में अवसान हो जाता है तब हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्मबन्धन समाप्त हो जाते हैं। ऐसा योगी कैवल्यपद को पा जाता है। यही पराकाष्ठा है और यही परा गति है।

गीता में इसे ब्राह्मी-स्थिति कहा गया है और उसकी प्राप्ति का उपाय निम्नलिखित श्लोक में बताया गया है—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययम् तत् ॥

जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य-स्थिति है और जिनकी कामनायें पूर्णरूप से नष्ट हो गई है वे सुख दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते है—

न तद्भासयते सूर्यो
न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते
तद्धाम परमं मम ॥

जिस परम पद को प्राप्त होकर मनुष्य को लौटकर संसार में नहीं आना पड़ता, उस स्वयं प्रकाश परम पद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है न चन्द्रमा और न अग्नि ही । वही मेरा परम धाम है ।

प्रश्न – पूज्य गुरुदेव ! आपकी कृपा से मैं इस विषय को भलीभांति समझ गया हूँ कि– योगी की परम गति क्या और किस प्रकार होती है तथा कैवल्य मोक्ष किसे कहते है ? कृपा करके यह भी बतला दीजिये कि जीवन-मुक्त किसे कहते हैं ?

उत्तर—हे पुत्र ! विदेहावस्था तथा प्रकृति लयता की स्थिति को पारकर केवलाभाव को प्राप्त हुए योगियों को ही जीवन्मुक्त कहा गया है ।

महोपनिषद् के दूसरे अध्याय में जीवन्मुक्त के लक्षण इस प्रकार बताये गये है ।

तपः प्रभृतिना यस्मै
हेतुनैव विना पुनः ।
भोगा इह न रोचन्ते
स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

आपतत्सु यथाकालं
सुखदुःखेष्वनारतः ।
न हृष्यति ग्लायति यः
स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

अहंकारमयीं त्यक्त्वा
वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येय संत्यागी
स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

मौनवान निरहंभावो
निर्मानो मुक्तमत्सरः ।
यः करोति गतोद्वेगः
स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

सर्वत्र विगतस्नेहो
यः साक्षिवदवस्थितः ।
निरीच्छो वर्तते कार्ये
स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

येन धर्ममधर्मं च
मनोमननमीहितम् ।
सर्वमन्तः परित्यज्य
स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
कट्वम्ल लवणतिक्त-
ममृष्टं मृष्टमेव च ।
शान्त संसारकलनः
कलावानपि निष्कलः ।
य सचित्तोऽपि निश्चित्तः
स जीवन्मुक्त उच्यते ॥
यः समस्तार्थजालेषु
व्यवहार्यपि निस्पृहः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा
स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

जीवन्मुक्त वही है जो तप आदि साधनों के बिना स्वभाव से ही सांसारिक भोगों से विरक्त है। समय-समय पर मिलने वाले सुख और दुःखों में जो आसक्त नहीं होता तथा जो सुख से हर्षित और दुःख से दुःखी नहीं होता, ऐसा पुरुष काम, क्रोध, हर्ष, उद्वेग, शोक आदि विकारों से मुक्त रहता है और अहंकारयुक्त वासना को स्वभाव से ही त्याग देता है तथा चित्त के अवलम्बन में जो सदा त्याग-भाव रखता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

जिसका मौन रहने का स्वभाव हो, जो मान-मत्सर के विकार से रहित है, जो उद्वेग रहित होकर अपने कर्म में लगा रहता है, जो मोह रहित होकर साक्षी के समान जीवन व्यतीत करता है और बिना किसी फल की कामना किये कर्मरत रहता है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने धर्म-अधर्म, सब प्रकार के संकल्प-विकल्प तथा सांसारिक विषयों के चिन्तन का त्याग कर दिया है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष खट्टे चरपरे, कड़वे, मीठे, नमकीन पदार्थों को स्वाद की चिन्ता किये बिना ही खा लेता है, अर्थात् जो पुरुष स्वादिष्ट और स्वादहीन पदार्थों को एक समान समझकर खा लेता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है, जो कलायुक्त होते हुए भी कलारहित रहता है, चित्त के रहते हुए भी जो चित्तरहित बना हुआ है तथा जिसने सांसारिक विषयों का चिन्तन छोड़ दिया है वह जीवन्मुक्त है। विश्व के सभी अर्थजालों के मध्य स्थिर रहते हुए भी पराये धन से निस्पृह रहने वाला तथा आत्मा में पूर्णता का अनुभव करने वाला महात्मा जीवन्मुक्त कहलाता है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! क्या सामान्य सांसारिक व्यक्ति भी योग साधना द्वारा ऐसी उच्चतम स्थिति को पाकर शाश्वत सुख का अनुभव करता हुआ संसार-चक्र से मुक्त हो सकता है ?

उत्तर—हां पुत्र ! योग से सब कुछ संभव

है। हमारे आचार्यों का यह अनुभूत सिद्धान्त है–

यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति सेयं योगविद्या।

अर्थात् जिसे जान लेने से सब कुछ जाना जाता है, जिसे पाकर सब कुछ अपने आप मिल जाता है वही यह योग-विद्या है।

भगवान पतञ्जलिदेव द्वारा दर्शाये गये अष्टाङ्गयोग के सिद्धान्तों पर आचरण करता हुआ मनुष्य अपने जीवन को योगमय बना सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रश्न–हे गुरुदेव! अष्टाङ्गयोग किसे कहते हैं तथा उसे अपनाकर किस प्रकार मनुष्य योगी बन सकता है?

उत्तर—प्रिय वत्स! सुनो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योग के आठ अंग हैं। इनमें से यम और नियम योग-विद्या की वर्णाक्षरा हैं। जब तक इनका दृढ़ता से पालन न किया जाये तब तक साधक योगमार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। अतः सब प्रथम यम-नियमों की ही साधना करनी चाहिये। अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं।

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं।

इनमें से यदि किसी एक का भी दृढ़ता से पालन किया जाये तो शेष यम नियमों का पालन स्वतः ही हो जाता है। उदाहरणार्थ–जो व्यक्ति मनसा-वाचा-कर्मणा अहिंसक है, जिसने जीवन में अहिंसा व्रत को धारण कर रखा है, उससे सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का तथा पाँचों नियमों का पालन अपने आप ही हो जायेगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति तपस्वी है या स्वाध्यायशील है उससे भी सभी यमों और शेष नियमों का पालन स्वाभाविक ही हो जायेगा।

यम-नियमों के बाद तीसरा अंग 'आसन' है। आसन सिद्धि के लिए दो बातें बताई गई हैं–

प्रयत्न शैथिल्यादनन्तसमापत्तिभ्याम्।

अर्थात् शरीर सम्बन्धी सब प्रकार की चेष्टाओं को त्याग देना और परमात्मा में मन लगाना इन दो उपायों से आसन सिद्ध होता है। आसन की स्थिरता के लिए ब्रह्मचर्य रूप 'यम' का तथा तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान आदि नियमों का पालन परमावश्यक है।

योग का चौथा अङ्ग प्राणायाम है। प्राणायाम की गिनती तपों में की गई है। प्राणायाम के अभ्यासी के लिए यम-नियमों का पालन और भी अधिक आवश्यक है। साथ ही आसन की स्थिरता भी जरूरी है।

पाँचवां अङ्ग 'प्रत्याहार' है। इन्द्रियों की बाह्य वृत्तियों को सब ओर से समेटकर मन में विलीन करने का अभ्यास 'प्रत्याहार' कहलाता है। प्रत्याहार का फल बताया गया है–

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ।

अर्थात् प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर साधक की इन्द्रियां सर्वथा उसके वश में हो जाती हैं।

इसके बाद योग के तीन अन्तिम अंग— धारणा, ध्यान और समाधि हैं। इन्हें अन्तरंग अंग माना गया है। यमों से लेकर प्रत्याहार तक योग के पांच बहिरंग अंग कहे जाते हैं। इन पर दृढ़ता से आचरण करता हुआ साधक ही धारणा, ध्यान और समाधि में प्रवेश पा सकता है।

इस प्रकार योग के सभी अंग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और एक दूसरे के पोषक हैं। अष्टाङ्गयोग का फल बताते हुए भगवान पतञ्जलि देव लिखते हैं—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।

अर्थात् योग के आठ अंगों को आचरण में लाने से चित्त के रागद्वेषादि मल नष्ट हो जाते हैं और साधक के ज्ञान का प्रकाश उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ विवेक-ख्याति तक पहुँच जाता है, उसकी बुद्धि का खजाना खुल जाता है और वह निर्बीज समाधि को प्राप्त हो जाता है।

अष्टाङ्गयोग के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को योगदर्शन में क्रियायोग के नाम से वर्णित किया गया है। इसके अभ्यास से मन्द से मन्द साधक भी योग की अमर निधि को पा जाया करता है। इसके साथ ही हमारे योगाचार्यों का यह आदेश भी ध्यान देने योग्य है—

उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य
वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशितादुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो-वदन्ति ।।

अर्थात्– तत्वदर्शी महापुरुषों की शरण में जाकर एवं उनका कृपा-भाजन बनकर ही मनुष्य योग की अमर निधि को पा सकता है बिना उनकी सहायता के योगमार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान है।

❋ ❋ ❋

मानव का दानव होना उसी हार है। मानव का महामानव होना उसका चमत्कार है। मानव का मानव होना ही उसकी जीत है। —डा० राधाकृष्णन

हमारे जीवन का प्रत्येक अगला दिन, पिछले दिन से कुछ ऐसे ढङ्ग का हो जिससे हमने कुछ सीखा हो। —रवीन्द्रनाथ टैगोर

अद्वैत ज्ञान

श्री वैद्य रामधन शर्मा आयुर्वेदरत्न, आयुर्वेदाचार्य

भगवान एकही निर्गुण व शुद्ध सामान्य चेतन पारमार्थिक तत्व है, उसमें कोई संकल्प विकल्प भावना व कारण कार्य भाव नहीं है। वह ही सर्व-श्रेष्ठ द्रष्टा है, और उसकी अपेक्षा कोई द्रष्टा नहीं है। जिस प्रकार भूत समुदाय में पृथ्वी का अन्तरात्मा जल है। जल का तेज और तेज का वायु और वायु का आकाश है। यानी सब भूतों का अन्तरात्मा आकाश है। इसी प्रकार जड़-तत्वों का अन्तरात्मा जीवात्मा है। और जीवात्मा का भी अन्तरात्मा परमात्मा है। यानी सब का अन्तरात्मा परब्रह्म परमात्मा है। क्योंकि उसके लिए 'है' शब्द का भी प्रयोग नहीं होता। परन्तु 'है या नही' ये तो द्वैत के लिए प्रयोग होते है। अद्वैत व अज्ञात तत्व का कहना, सुनना (शुद्ध-विचार) नहीं होता। उसका तो जानना पहचानना (अनुभव जीवन में घटाना, मूक सत्संग) ही होता है। वही चेतन स्वरूप ज्ञान और अज्ञान का समान आश्रय है। क्योंकि जो अज्ञान का विषय है वही ज्ञान का विषय है। घटादि जड़ पदार्थ अंश अज्ञान के विषय नहीं इसलिए वह ज्ञान के भी विषय नहीं अथवा वे ज्ञान नहीं है। मैं घट को नहीं जानता हूं अथवा जानता हूं। इन कथनों में घट अधिष्ठान चेतन के ही अज्ञान व ज्ञान का व्यवहार है। जड़ रूप घट अंश की अज्ञानता व ज्ञानता का प्रयोजन नहीं है। जगत का आरोप सम्पूर्ण जगत के जीवों के संकल्प-विकल्प से है। जिसे जीव अपनी अल्प बुद्धि द्वारा अनुभव करता है। यही विद्या अविद्या रूप आदि ज्ञान सज्ञान अज्ञान बुद्धि-ज्ञान गुण-ज्ञान परिछिन्न ज्ञान-विज्ञान करण-सापेक्ष. अनुभूति प्रमा-ज्ञान, जीवकृत सृष्टि व स्मृति ज्ञान कहलाता है। जो जीव की मुक्ति के बन्धन का हेतु हैं। अथवा जीव-कृत ज्ञान होने से मिथ्या है। अनुभव ही ज्ञान रूप विषय का विषयी होता है। सभी ज्ञानों का उपादान कारण अन्तःकरण ही होता है। अथवा सभी ज्ञान अन्तःकरण के परिणाम होने से उसके ही धर्म व कार्य होते हैं। अर्थात् जितने ज्ञान हैं उतने ही अज्ञान भी हैं। सभी पुण्यों (सुख) का प्रधान कारण ज्ञान है। सभी पापों का (दुःखों) का प्रधान कारण अज्ञान है। परा-विद्या (तत्व ज्ञान, विवेक-बुद्धि, ब्रह्माकार वृत्ति, आत्म ज्ञान, सम्यक्ज्ञान अद्वैत ज्ञान, स्थिर ज्ञान, एकत्व ज्ञान तथा

सत् वस्तु की ठीक पहचान कराने वाली उपनिषद् विद्या) का परिणाम तो अविनाशी मोक्षकी प्राप्ति या अद्वैत स्थिति प्राप्त कराना होती है, जिसका निमित्त कारण वेदान्त का श्रवण मनन निदिध्यासन है और उपादान कारण शुद्ध निरुद्ध अन्तःकरण होता है। इस जाने हुए का ही अनादर करने से ही भूल उत्पन्न होती है, जो सब अनर्थों का मूल है। परन्तु अपरा विद्या वा अविद्या का परिणाम अनात्माकार वृत्ति का ज्ञान-प्रमा या अप्रमा रूप संसारी ज्ञान लौकिक यथार्थ या अयथार्थ स्मृति ज्ञान विनाशी अस्थिर ज्ञान अविवेक या भ्रान्ति दोष युक्त ज्ञान होता है। इस विज्ञान का निमित्त कारण जीवकृत अपराविद्या या अविद्या है। जो केवल तूलाविद्या को हटाने वाला या नई-नई प्रातिभासिक सृष्टि बनाने वाला ही होता है। किन्तु मूलाविद्या को नहीं हटा सकता अथवा बन्धन में डालता है। मिथ्या-भ्रमज्ञान अविद्या रूप होने से गतिशील, चंचल व संशययुक्त रहता है। इसलिये इसको किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप का निश्चय नहीं होता। इन्द्रिय और विषय की उपाधि के निमित्त से बुद्धिजन्य ज्ञान की अनेकता का भ्रम होता है। तथा संसार का अनेक व्यवहार इस परोक्ष ज्ञान से चलता है। जिनकी अत्यन्त तीव्र गति होती है और निश्चय भी वही है जो अपने से भिन्न वस्तु का ज्ञान परोक्ष होता है। किन्तु अपने स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान ही होता है। ज्ञान प्रमाण और प्रमेय अधीन होता है। वह तो सत्व स्थिर शुद्ध निराविष्ठ व पूर्ण अन्तःकरण उपाधि द्वारा ही विशेष रूप से प्रकट होता है जबकि फिर ब्रह्माकार का भी उसी में लय हो जाता है। इस तत्व ज्ञान से अविद्या ग्रन्थि अब्रह्मत्व हृदय ग्रन्थि संशय कर्म, सवकामता मृत्यु और पुनर्जन्म आदि सब प्रकार के बन्धन निवृत्त हो जाते हैं।

ऋते ज्ञानन्न मुक्तिः।

अर्थात् ज्ञान के बिना अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होता। नियम यह है--जिसके ज्ञान से जो दीख पड़ता है उसके ज्ञान से उस दृश्य का बोध होता है। ब्रह्म के अज्ञान से ही संसार दीखता है। इसलिये उसका बोध भी ब्रह्मज्ञान से ही होता है। ब्रह्म-ज्ञान या अद्वैतज्ञान के मनन व निदिध्यासन से बुद्धि-जन्य भ्रम ज्ञान व अध्यास का बोध होता है और कार्य कारण भाव की प्रतीति मिट जाती है। वह सब ब्रह्म विवर्त रूप कार्य ब्रह्म रूप ही भान होता है। यानी सब जगह समत्व दर्शन होता है। अद्वैतीय ज्ञान कोई व्यावहारिक जगत को मिटा नहीं देता, किन्तु उन्हें मरुभूमि में मृग तृष्णा की जल की तरह मिथ्यारूप व विपरीत दशा में होने का निश्चय कराता है। ज्ञानी समझ जाता है कि वह

प्रतिबिम्ब रूप जगत भ्रान्ति से अपने चेतन अधिष्ठान से उल्टा और बाहर प्रतीत होता है। जैसे अपने मुख का दर्पण में प्रतिबिम्ब उल्टी दशा में तथा बाहिर प्रतीत होता है। यद्यपि वह अपनी गर्दन पर होता है। कहीं बाहर नहीं होता। अर्थात् सद् वस्तु ब्रह्म को अद्वितीय पूर्ण व आनन्द स्वरूप जानना और द्वैत रूप जगत को मिथ्या व झूठा अपूर्ण व दुःखरूप जानना पहचानना ही ब्रह्मज्ञान है।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः
स्रोतः स्वरणीषुचाग्निः।
एवमात्माऽत्मनि गृह्यतेऽसौ-
सत्ये नैनं तपसायोऽनुपश्यति॥

अर्थात्—जैसे यन्त्र से तिलों में तैल मंथन से दही में से घी, खोदने से स्रोतों से जल और काष्ठ मन्थन से काष्ठों में अग्नि दीख पड़ती है। इसी प्रकार सत्य तप मनन से अपने स्वरूप आत्मा में ही निविशेष परमात्मा का अनुभव होता है। क्योंकि—

अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोध।

अर्थात्-अभ्यास वैराग्य द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है।

ज्ञान तो आकाश के समान भेद-भाव से शुद्ध व अतीत है। इस ज्ञान रूप, स्पर्श ज्ञान और शब्द ज्ञान में वास्तविक कोई भेद नहीं है। ज्ञान ज्ञान सब एक ही हैं यह विघ भेद तो इस रूप स्पर्श शब्द आदि उपाधियों से प्रतीत होने लगता है। स्वरूप से ज्ञान का भेद नहीं है माया की विलक्षणता के कारण कल्पनीय पदार्थों में गौरव लाघव है जो कोई दोष नहीं है केवल ज्ञान तो एक ही है। क्योंकि ज्ञान ज्ञान एक रूप से उसका बोध होता है। इसलिये उपाधि के भेद से उपादेय ज्ञान में भेद की कल्पना भ्रम है। प्रत्यक्ष व यथार्थ नहीं है। ज्ञान का घट-पट आदि विषयों के साथ संयुक्त तादात्म्य सम्बन्ध हो जाने से उस विषय की प्रतीति (ज्ञानाभ्यास) होती है। जो सम्बन्ध को स्वीकार न करे तो विषय की प्रतीति नहीं होती। जब भगवान ज्ञान ही जिह्वा, आंख, त्वचा, कान आदि में आता है तब ही जीभ रस लेती है। आंख रूप को देखती है, त्वचा स्पर्श का अनुभव करती है, और कान शब्द को सुनता है। इसी प्रकार नींद जब आत्मा, जीभ, आंख, त्वचा, कान को छोड़ देती है तब उनमें रस, स्पर्श रूप, सुनने का गुण नहीं रहता। क्योंकि ये उनके निजी गुण नहीं है।

उपसंहार

यह जो बाह्य ज्ञान है यह मिथ्या ज्ञान है अन्तरात्मा का ज्ञान नष्ट नहीं होता है। वह ज्ञान कब और कैसे होता है। पतञ्जलि जी कहते हैं—

चित्तवृत्तिनिरोधः योगः।

क्योंकि वृत्तियों का निरोध करके अन्तर-दृष्टि से जो ब्रह्म का अनुभव होता है वही योग है उसीसे ज्ञान प्राप्त होता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में परोपकार का उसे अधिकारी मानते हैं। क्योंकि मन्दिर में दीपक जलाने से पहले अपने घर में प्रकाश कर लेना उचित है।

योऽन्तः सुखोऽन्तरा-
रामस्तथातंर्ज्योतिरेवयः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं
ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
लभन्ते ब्रह्म निर्वाण
मृषयः क्षीण कल्मषाः।
छिन्नद्वैधा-यतात्मानः
सर्वे भूतहितेरताः ॥

अर्थात् जो योगी अन्तर्जगत का द्रष्टा बन चुका है तथा इसके फलस्वरूप आत्म-सुख और अन्तः प्रकाश कर चुका है वह ब्रह्म भाव तथा ब्रह्म की सृष्टि के साथ एकात्म भाव द्वारा पापरहित होकर द्वन्दों से रहित निर्विकार स्थिति में रहकर सभी प्राणियों का हित साधन करते हुए जीवन्मुक्ति आनन्द प्राप्त करता है।

संगत कीजे साधु की, हरे और की व्याधि।
ओछी संगत कूर की आठों पहर उपाधि ॥

जिसकी कामना समाप्त नहीं होती वह योगी हो नहीं सकता। अतएव कामना को समाप्त करके अन्तरात्मा का ध्यान करना चाहिए जिससे सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त होकर अपना कल्याण करने की शक्ति प्राप्त हो सके।

☼ ☼ ☼

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

हे पुरुष श्रेष्ठ, सुख-दुःख में एक रस रहने वाले जिस पुरुष को ये पदार्थ उद्विग्न नहीं कर पाते वही अमृतत्व---मुक्ति प्राप्त करता है।

'सम दुःख-सुख' का यह मतलब नहीं कि दोनों को एक बना दे। ऐसा तो होना असम्भव है। दोनों दो चीजें हैं फिर एक कैसे होंगी? यह भी न कि दुःख या सुख जरा भी मालूम ही न हों। चेतन पुरुष के लिए यह भी अनहोनी चीज है। किन्तु जैसे पानी की लकीर बनते ही बनते मिट जाती है ठीक वैसे ही दिल-दिमाग पर जब ये दोनों नाम मात्र का ही असर करें तभी मनुष्य सम दुःख-सुख कहा जाता है। सारांश यह है कि दिल-दिमाग की गम्भीरता को ये बिगाड़ न सकें। यही गीता का साम्यवाद है जो अभी पहली बार आया है।

मन की प्रसन्नता

❀ श्रीमती सरिता भारद्वाज

जन सामान्य में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि –'जो मन चंगा तो कठौती में गंगा, यदि मन चंगा नहीं तो गंगा में भी गंगा नहीं। मन की प्रसन्नता सफलता का दिशा - सूचक चिन्ह है। खीझ, झुँझलाहट, आक्रोश, ईर्ष्या, द्रोह, मात्सर्य और चुगलखोरी की आदत से भरे हृदय वाले व्यक्ति का मुख मण्डल बिल्ली, कुत्ते और उल्लू जैसी छवि वाला बन जाता है। चिन्ताओं के वात्याचक्र से ऐसे व्यक्ति का मुख-मण्डल रेखा गणित का पृष्ठ जैसा लगने लगता है। ऐसे व्यक्ति के पास क्षण भर बैठने से दुःख और दौर्मनस्य के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। इस प्रकार की सम्पत्ति के व्यक्ति आसुरी भाव वाले माने गये हैं। मुख-मण्डल भावों की अनुक्रमणिका होता है। नेत्रों के माध्यम से व्यक्ति के आन्तरिक गुण और मनोभाव बाहर व्यक्त हो जाते हैं। मुहर्रमी सूरत वाले अपने वातावरण के साथ खट-पट करते-करते बहुमूल्य जीवन-हीरे को कौड़ी के भाव गँवा देते हैं। शकुन-शास्त्र और चिकित्सा-शास्त्र में मनहूस चित्त वाले दूत के दृष्टि-पथ में आने का फल कार्य हानि माना गया है। इसके विपरीत जो जिन्दा-दिल, प्रसन्न चित्त और गुलाब के फूल की तरह हमेशा खिले हुए व्यक्ति होते हैं उनके सम्पर्क में आने वाला कितना ही दुःखी हो उसकी प्रसन्नता का संक्रमण सामने वाले व्यक्ति में अवश्य हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने प्रसन्न रहने वाले व्यक्ति को ब्रह्म-निष्ठ होने का अधिकारी माना है। वे कहते हैं—"ब्रह्म-भूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति" दूसरे शब्दों में जो ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया है वही सदैव प्रसन्न रहता है और उसकी सारी कामनायें और शोक नष्ट हो जाते हैं।

हमारे बीच में कुछ ऐसे प्राणी भी दृष्टि-गोचर होते हैं जो हिंसा, लूट पाट और दूसरों को दुःख देकर अथवा सुस्वादु भोजन, वस्त्राभूषण का भोग अथवा वैभव का प्रदर्शन कर आत्म श्लाघा के द्वारा प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार की प्रसन्नता निराशा का परिवर्तित रूप है। कठोपनिषद् में नचिकेता जीवन के सत्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं – 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' धन संग्रह और उसके उपभोग से मनुष्य को प्रसन्नता और शान्ति कभी नहीं मिल सकती। जीवन में जितनी अधिक

स्वार्थपरता होगी उतनी ही चित्त में मलिनता होगी और जितनी ही परार्थ-भावना बढ़ती जायेगी उतनी ही चित्त की प्रसन्नता बढ़ती जायेगी। जो व्यक्ति अनुचित उपायों से धन-संग्रह करते हैं उनका चित्त वासना ग्रसित रहता है और जो उस अन्न को खाते हैं उनका चित्त भी मलिनता से भर जाता है। वेद भगवान स्पष्ट बताते हैं—बुरे साधनों से उपार्जित अन्न मनुष्य के विनाश का कारण होता है—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत स तस्य।' सेवा भावना से मन में उदार वृत्तियों का प्रवाह होता रहता है। इसी प्रकार दान-भाव से हृदय का विकास होता है। ऐसे व्यक्ति को हृदय रोग नहीं होता। जिस व्यक्ति के जीवन का एक क्षण व्यर्थ नष्ट होता, हर क्षण कार्यरत रहता है और अपने जीवन में श्रम को ईश्वर की पूजा समझता है उस व्यक्ति का चित्त सदा प्रसन्न रहता है।

चित्त की प्रसन्नता का नाम ही श्रद्धा है। प्रसन्न चित्त व्यक्ति के मन में आनन्द की तरंगें प्रवाहित होती रहती हैं। उसमें सतोगुण पूरित हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप वह सदा स्वस्थ रहता है। उसकी संकल्प शक्ति दृढ़ होती है और उसमें ज्ञान का विकास होता जाता है। गीता के चौदहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने तीनों गुणों का लक्षण बताते हुए सतगुण के प्रसंग में कहा है- 'सर्व द्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते' तथा "सत्वात् संजायते ज्ञानम्" सतोगुण की वृद्धि व्यक्ति की आध्यात्मिक साधना और अन्तर्मुखी वृत्तिका जनक है—

तत्र सत्वं निर्मलत्वात्
प्रकाशकम् अनामयम्।
सुख संगेन बध्नाति
ज्ञान संगेन चानघ॥

अर्थात् सतोगुण के विकास से निर्मलता इन्द्रियों में प्रकाश की वृद्धि नीरोगता, सुख तथा ज्ञान की वृद्धि होती है। प्रसन्न चित्तका परिणाम समाधि के रूप में फलित होता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में बुद्धि-योग प्रसंग में प्रसन्न चित्तता का रहस्य भली प्रकार से समझाया है।

प्रसन्न चित्त रहने वाले की बुद्धि सत्यदर्शी बन जाती है। जिसके द्वारा आत्म दर्शन सरलता से किया जा सकता है। वही व्यक्ति प्रसन्न हो सकता है जो राग, द्वेष से रहित है और इन्द्रियों को विषयों के पीछे पागल बनने से रोककर अन्तर्जगत के खजाने की ओर मोड़ देता है। जो आत्म निग्रह और ध्यान-योगपरायण बनकर आत्मा के साम्राज्य में विचरण करता है उसकी प्रसन्नता ही वास्तविक प्रसन्नता है। ऐसी प्रसन्नता आने

पर सभी प्रकार के दुःख निर्मूल हो जाते हैं। गीता में भगवान कहते हैं—

राग द्वेषः वियुक्तैस्तु
विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा
प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां
हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
—गीता २/६४, ६५

जो व्यक्ति मौन रह कर प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के द्वारा मन को प्रसन्न रखता है उसमें भावों की शुद्धि हो जाती है।

योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलि देव ने चित्त की प्रसन्नता के लिए निम्नलिखित उपायों का उल्लेख किया है—

मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणाम् सुख-दुःख पुण्यापुण्य विषयाणाम् भावनातः चित्त प्रसादनम् ।

मित्रता की भावना का विकास करने से ईर्ष्या और कलुषता के भाव नष्ट हो जाते हैं। जब हम दूसरों की सुख समृद्धि को अपने मन से संयुक्त होकर उससे प्रसन्न होना सीख जाते हैं तो ईर्ष्या भाव समाप्त हो जाते हैं। सुखी और सम्पन्न प्राणियों के प्रति मैत्री का विकास करने से आत्म विश्वास को बल मिलता है और शक्ति द्विगुणित होती है। किये गए उपकार को स्वीकार करना और उसके प्रति कृतज्ञ होना सज्जनता का गुण है। कृतघ्न व्यक्ति ईर्ष्या से भरा रहता है। कृतज्ञ व्यक्ति सरसता और प्रसन्नता से भर जाता है। हमारे मन में 'सर्वभूत हितेरताः' की भावना का जितना अधिक विस्तार होगा उतना ही मन प्रसन्नता से भरा रहेगा। दुखी व्यक्तियों के प्रति करुणा, दया, सहानुभूति तथा सेवा का भाव रखने से जीवन में उदा-रता आती है उससे चित्त में प्रसन्नता रहती है। जब हम किसी का उपकार करें तो "नेकी कर कुए में डाल" वाले नियम का अनुसरण करें तो हमें उपकृत से बदले की आकांक्षा नहीं होगी, तभी हमारे मनमें सच्ची प्रसन्नता का उदय हो सकेगा। जब हमारा हृदय इस दिव्य भाव से भरा होगा कि 'ईश्वर का बड़ा अनुग्रह है कि उसने किसी को दुःखी बनाकर हमें उसकी सेवा करने का अवसर दिया है। उसमें हमारा अपना कुछ नहीं है।' इस संदर्भ में अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति अब्राहम-लिंकन की घटना उल्लेखनीय है—एक बार वे घर से तैयार होकर संसद भवन जा रहे थे रास्ते में एक सूअर कीचड़ में फंसा चिल्ला रहा था। उसके दुःख को देखकर लिंकन को दया आ गई और वे बिना कुछ सोचे विचारे

तत्क्षण कीचड़ में कूद पड़े और सूअर को कीचड़ से बाहर निकाल दिया इस कार्य के करने से लिंकन के कपड़े कीचड़ से लथपथ हो रहे थे और उधर संसद का समय हो गया था। वे अपने समय के बिल्कुल पाबन्द थे अतः वे कीचड़ से सने हुए कपड़ों में ही संसद भवन पहुँचे। उस दशा में उन्हें देखकर सभी सांसद नाना प्रकार के तर्क-वितर्क करने लगे। जब उनको घटना बताई गई तो वे राष्ट्रपति की दया की प्रशंसा करने लगे। उनको बीच में रोककर लिंकन ने कहा था कि 'सूअर को कीचड़ से निकाल कर मैंने कोई दया नहीं की थी। यदि मैं उसे न निकालता तो मुझे बहुत वेदना होती। अपने कष्ट की निवृत्ति और अपनी प्रसन्नता के लिए मैंने यह सब किया है। किसी को सहायता करने पर वस्तुतः यही भाव रहने से सच्ची प्रसन्नता मिलती है। दुःखी व्यक्तियों पर करुणा करने से दूसरों का उपकार करने का भाव नष्ट हो जाता है। पुण्यात्मा, धर्म, शील, साधु सन्तों को देखकर हृदय हर्ष से भर जाय तो अमर्ष की जलन नहीं होती। अपितु उत्कर्ष की चाह जग जाती है। इसी प्रकार अधम प्रकृति के लोगों से समत्व भाव और उपेक्षा रखता है उसका भी चित्त प्रसन्न रहता है। रहीम ने उचित ही कहा है--

रहिमन ओछे नरन तें, तजहु बैर अरु प्रीति।
काटे चाटे स्वान के, दुहू भाँति विपरीत॥

दुष्ट लोगों के मुँह लगना बुद्धिमानी नहीं है। उनके प्रति घृणा-भाव और प्रेम-भाव न होने दें तभी चित्त प्रसन्न रह सकता है। दूसरों पर हँसने की अपेक्षा जो अपने दोषों पर हँसना सीख जाय उसका चित्त प्रसन्न रहता है। मौन, शान्त और मधुर भाषण का सद्‌व्यवहार, विनोद, हास-परिहास, करुणा और क्षमा भाव तथा परोपकार और निः-स्वार्थ सेवा के द्वारा अध्यात्म योग परायण बनने से व्यक्ति का जीवन सुख का भण्डार बन जाता है। दूसरों को सुख देने से सुख मिलता है और दूसरों को दुःख देने से दुःख। इसी तरह दूसरों को प्रसन्न रखने से प्रसन्नता मिलती है।

卐 साधना और समाज सेवा 卐

जब साधना से-मानव में--ईश्वर देखने की सामर्थ्य निर्माण होती है तब वह साधना सेवा में परिणत होती है। तब साधना से सेवा को अलग करना संभव नहीं रह जाता। यह भावना ही शेष नहीं रहती कि मैं सेवा कर रहा हूँ। अहंता सेवा में पिघल जाती है। साधना व्यापक बनती है। उसको मानव-व्यापी स्वरूप प्राप्त होता है। साधना और समाज सेवा में कोई भेद नहीं बाकी रहता। यह फर्क ही नहीं रहता कि अमुक वस्तु आत्म-संतोष के लिए है और अमुक लोकाराधना के लिए है। यह भेद भी नहीं रह जाता कि साधना अलग है और उत्तरदायित्व अलग है, कर्त्तव्य अलग है और अधिकार अलग है। आत्मोद्धार और लोक संग्रह परस्पर में घुल मिल जाते हैं। —दादा धर्माधिकारी

आश्रम समाचार—

❋ गुरुपूर्णिमा पर गुरुपूजन समारोह ❋

प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी अषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा, सवाई आश्रम पर परम्परागत गुरु पूजन की पूर्णिमा के रूप में दूर-दूर के राज्यों और शाखा–मण्डलों से आये हुए साधकों, योग प्रेमियों और गुरु दीक्षा प्राप्त करने वाले सहस्रों भाई-बहनों द्वारा अतीव श्रद्धा और भक्ति-भावना पूर्ण सुहावने पावसीय मौसम में बनाई गई। बड़े ही धैर्य और शालीनता के साथ आगन्तुक गुरु भक्तों का समुदाय कई-कई पंक्तियों में विभाजित होकर मञ्चासीन हुए अपने गुरुदेव के पूजन और चरण-स्पर्शन का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए क्रम वार कदम-कदम करके आगे बढ़ता और इस प्रकार पर्याप्त प्रतीक्षा के बाद पूजन का अपना अवसर पाकर तथा गुरु प्रसाद ग्रहण करके पंक्ति से पृथक हो जाता था। जितने आगन्तुक भाई-बहन पूजन करके पंक्ति से अलग हो जाते उससे अधिक नवीन आ-आकर पंक्तियों के पिछले भागों में और जुड़ जाते थे। पूजन का यह क्रम गुरुदेव जी द्वारा की गई महाप्रभुजी की प्रातः कालीन आरती से आरम्भ होकर मध्याह्नोत्तर ३, ४ बजे तक चलता रहा इसके साथ ही सभी आगन्तुक भाई-बहनों ने सामूहिक रूप से आश्रम की ओर से आयोजित भण्डारे में सम्मिलित होकर प्रसाद ग्रहण किया।

बहुसंख्यक शिष्यों द्वारा गुरु पूजन के इस सुसंस्कृत समारोह के दृश्य को देखकर ऐसा लगता था मानो गुरु पूर्णिमा गुरु-पूजन और गुरु सत्कार के महत्व को हृदयंगम करने वालों की संख्या शनैः-शनैः बढ़ती जा रही है। भारतीय संस्कृति के प्रसार की यह विचार-धारा महत्वपूर्ण ही कही जा सकती है। गायन और भजन के मधुर कार्यक्रम भी गुरुदेवजी की जयकार के बीच में चलते जा रहे थे।

—संवाददाता

Regd. No. L. AG. 08

卐 विश्वरूप और जगद्रूप 卐

श्रीमद्भगवद्गीता में परमेश्वर का विश्वरूप कहा है। जो विश्वरूप है वह जगद्रूप नहीं है। कुछ लोग दोनों को एक ही मानकर बड़ी गड़बड़ कर देते हैं, बड़ा ही भ्रम उत्पन्न करते हैं।

परमेश्वर निर्मित विश्व है परन्तु वैसा जगत का नहीं है। जगत मानव निर्मित है। कुछ उदाहरण लेकर इस पर विचार करना चाहिए।

वृक्ष परमेश्वर ने बनाये हैं इसलिए वे विश्व के भाग हैं। परन्तु वृक्ष की लकड़ियां काटकर चौरंग, चारपाई, पेटी, सन्दूक, द्वार, खिड़की आदि जो अनन्त चीजें बनाई जाती हैं उनका समावेश जगत में होता है। यह मनुष्य निर्मित है। इसी तरह सुवर्ण परमेश्वर निर्मित है उसको लेकर सुवर्णकार अनेक आभूषण बनाता है, यह जगत है तथा मानव निर्मित है। मिट्टी ईश्वर निर्मित है अतः यह विश्वरूप है परन्तु घड़ा, घर की दीवारें आदि मानव-निर्मित चीजें जगत में सम्मिलित हैं। इस प्रकार विचार करने से विश्व क्या है और जगत क्या है इसका विचार हो सकता है।

जगत नाशवन्त है, मिथ्या है और वह ईश्वर के विश्वरूप में अन्तर्भूत नहीं है, जो परमेश्वर निर्मित है उनके रूपों को कारण करके परमेश्वर विश्वरूपी बन गया है। घड़ा मानव निर्मित होने से वह जगद्रूपी है विश्वरूपी नहीं है तथापि उसकी मिट्टी विश्वरूप में सम्मिलित है।

इसी प्रकार स्त्री और पुरुष ईश्वर निर्मित हैं इसलिए वे विश्वरूप हैं परन्तु पति पत्नी और इनसे बनने वाले अनेक नाते सब मानव कल्पित और मानवीय व्यवहार के कारण उत्पन्न हुए हैं अतः जागतिक हैं और अस्थायी हैं। यही अन्तर है विश्व और जगत का।

—श्री पाद दामोदर सातवलेकर

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'शिल्प' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, चारों नामों, ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३३६८